हिन्दी साहित्य

अर्थात्

हिन्दी भाषा और साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

लेखक
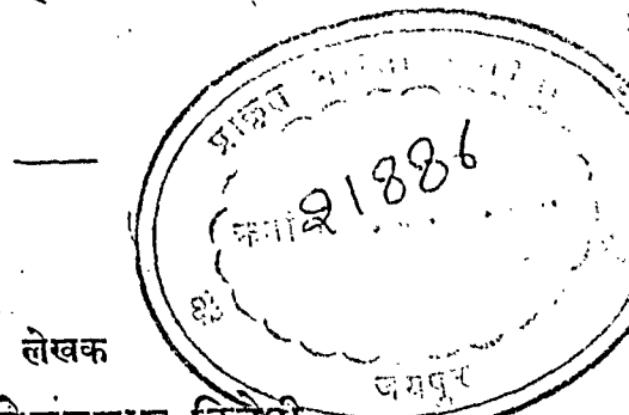
पण्डित गणेशप्रसाद द्विवेदी,

एम० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक

हिन्दी प्रेस, प्रयाग

प्रकाशक,
हिन्दी प्रेस, प्रयाग

प्रथमवार

मूल्य १)

मुद्रक,
रघुनन्दन शर्मा
हिन्दी प्रेस, प्रयाग

दो शब्द

हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर कई बड़ी-बड़ी पुस्तकों के प्रकाशित हो चुकने पर भी, इस छोटी सी पुस्तक के लिखने का उद्देश्य है केवल साहित्यिक दृष्टिकोण से और संक्षेप से हिन्दी-साहित्य-संबंधी केवल उन बातों को एकत्रित और सजाकर विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं के सामने पुस्तकाकार रखना जिनका ज्ञान साहित्य के वास्तविक अध्ययन से ही संभव है। इन्हीं बातों को अधिक विस्तार से जानने के लिए बड़ी पुस्तकों की शरण लेनी पड़ेगी। और इस विषय में सबसे अधिक सहायता पं० रामचंन्द्र शुक्ल की पुस्तक हिन्दी-साहित्य का इतिहास—से मिल सकती है।

संक्षेप और पाठकों के समय का ध्यान अनवरत रूप से रखते हुए भी विहंगम दृष्टियों तथा बड़े बड़े "निष्कर्षों से भर-सक दूर रहने की चेष्टा की है।

उपयोगिता की दृष्टि से मैंने इस पुस्तक की सूची, अनुक्रमणिका और हाशिये के शीर्षकों को इतना पूर्ण बनाने की चेष्टा की है जितना कि संभव था। विषयों की सूची में प्रधान और मार्जिन दोनों ही के शीर्षक इस प्रकार दिये गए हैं कि उनपर एक दृष्टि डालने से पूरे विषय की आवृत्ति और जानकारी हो सकेगी। मुख्य मुख्य कवियों की कविता के कुछ उदाहरण दे देना भी मैंने उचित समझा।

इस प्रकार के काम में त्रुटियों का होना अनिवार्य है और अपने उक्त उद्देश्य को पूरा करने में मुझे कितनी सफलता मिली है यह भी समय ही बतलावेगा। फ़िलहाल मैंने इस छोटे से कार्य में जिन महानुभावों से व्यक्तिगत तथा उनकी कृतियों से सहायता ली है उनकी हृदय से कृतज्ञता स्वीकार करके छुट्टी लेता हूँ।

सबसे पहले मैं मौलवी मिरज़ा अबुलफ़ज़ल और साहित्याचार्य पं० पद्मसिंहजी शर्मा का हृदय से आभारी हूँ। खेद है कि मैं जल्दी में पड़कर इस पुस्तक के सारे प्रूफ़ मिर्ज़ा साहब को न दिखा सका और इसीसे बहुत सी ग़लतियाँ रह गई हैं। इसके सिवा नामों की उपक्रमणिका बनाना भी मुझे मिर्ज़ा साहब ने ही बताया। जो हो, मिर्ज़ा साहब के प्यार और शर्माजी के निरन्तर प्रोत्साहन से ही इस पुस्तक को पूरी कर सका हूँ। शर्माजी तो मुझसे इतने प्रसन्न हैं कि उन्होंने एक पंक्ति के आशीर्वाद के स्थान पर मेरा एक क़ाफ़ी लम्बा परिचय लिख दिया है। इस कृपा के लिये उक्त दोनों विद्वानों को धन्यवाद देना धृष्टता है। यही बहुत होगा यदि भविष्य में अपने को इनका ऐसा ही स्नेहभाजन और कृपापत्र रख सका।

अंत में, जिन पुस्तकों से मैंने सहायता ली है उनके लेखकों का मैं ऋणी हूँ। यों तो इस विषय पर प्रचलित प्रायः सभी पुस्तकों का देखना मैंने आवश्यक समझा पर ख़ास कर मैं पं० रामचन्द्र शुक्ल का ऋणी हूँ। अधिकांश बातों में मैं आपकी पुस्तक को आदर्श मानने पर बाध्य हुआ हूँ और आपके ही दिखाए हुए मार्ग से मुझे चलना पड़ा है। आशा है शुक्लजी मेरी कृतज्ञता स्वीकार करेंगे।

हाँ, एक बात और। इस पुस्तक के आरंभ में मैंने एक अध्याय में हिन्दी भाषा का भी संक्षिप्त इतिहास लगा देना आवश्यक समझा। इसके लिये मैंने ख़ास तौर से ग्रियर्सन साहब की पुस्तकों से सहायता ली है, और आपका भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

१ बैंकरोड, प्रयाग]

—गणेशप्रसाद द्विवेदी

परिचय

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास का संक्षिप्त विवरण है। इस विषय पर इससे पहले हिन्दी में कई बड़ी-बड़ी पोथियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें श्रीयुत पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" सर्वश्रेष्ठ है ; उसमें कुछ विस्तार से हिन्दी भाषा और उसके साहित्य पर विवेचनापूर्ण विचार किया गया है, पर वह ग्रन्थ बड़ा है और विद्वानों के मनन करने योग्य है, भाषा के साधारण विद्यार्थी उससे उतना लाभ नहीं उठा सकते।

आज-कल की शिक्षाप्रणाली में भाषा का इतिहास एक आवश्यक पाठ्य विषय हो गया है—इसके बिना शिक्षा अधूरी समझी जाती है। जिस भाषा को हम बोलते हैं, जिसके साहित्य को पढ़ते-पढ़ाते हैं, उसकी उत्पत्ति और विकास किस प्रकार हुआ, यह जानना भाषा के प्रत्येक विद्यार्थी और अध्यापक के लिए ज़रूरी हो गया है।

इसी विचार से हिन्दी भाषा का इतिहास संक्षेप में समझाने के लिए श्रीयुत पण्डित गणेशप्रसाद द्विवेदी (एम० ए०, एल-एल० बी०) ने यह छोटी सी पुस्तक रची है, जो विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त होगी, इससे वे संक्षेप में हिन्दी भाषा और उसके विकास के बारे में बहुत सी ज्ञातव्य बातें जान सकेंगे।

भाषा का इतिहास हिन्दी में एक नया विषय है, नई शिक्षा-पद्धति के साथ ही इसका निर्माण और प्रचार हुआ है। इस विषय पर कोई भी पुरानी प्रामाणिक पुस्तक नहीं मिलती। हिन्दीप्रेमी डाक्टर ग्रियर्सन साहब आदि पाश्चात्य विद्वानों ने जो मार्ग सुझा दिया है बहुत कुछ उसी के सहारे भारतीय विद्वान् इस विषय के ऊहापोह में प्रवृत्त हुए हैं—अभी तक उसी पर सब चल रहे हैं, इस प्रबन्ध के प्रणेता भी उसी प्रहत पथ पर—शार्ट-कट का ख़याल रखते हुए—चले हैं और मन्ज़िल तक पहुँच गये हैं।

किसी भी विषय के इतिहास में लेखक के लिए सर्वथा नवीनता या मौलिकता की गुंजायश बहुत कम होती है, उन्हीं सर्वसम्मत बातों को (पुराने पंचों की सम्मति का सम्मान करते हुए) दोहराना पड़ता है, कहने का ढँग अपना-अपना जुदा होता है। हिन्दी भाषा के इस संक्षिप्त इतिहास में भी यही बात है, जो बातें इस विषय के इतिहास की बड़ी-बड़ी पोथियों में विस्तार से कही गई हैं संक्षेप में अपने तौर पर उन्हीं का उल्लेख किया गया है।

फिर भी इसके विद्वान् लेखकने सब जगह "बँधी गत"*

---

* पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी संगीत-कला के भी विशेषज्ञ हैं, ख़ास कर सितार तो बहुत ही बढ़िया बजाते हैं, हाथ ख़ूब तैयार है, बोल ऐसा साफ़ निकालते हैं कि सुनते ही बनता है। मतलब यह कि आप 'बँधी गत' के पाबन्द नहीं हैं, अपनी जुदा गत भी अच्छी तरह बजा सकते हैं।

नहीं बजाई है; स्थान स्थान पर अपने स्वतन्त्र विचार भी प्रकट किये हैं। यों मतभेद से रहित तो (गणित को छोड़कर) कोई विषय भी नहीं है, ग्रन्थलेखक के मत से कई जगह कई लोगों का मतभेद हो सकता है पर लेखक ने प्रत्येक प्रकरण में—कवियों और लेखकों के उल्लेख में—बड़ी उदारता, सहृदयता और शिष्टता से अपना मत पाठकों के सामने रक्खा है।

पण्डित गणेशप्रसाद द्विवेदी इस विषय पर लिखने के सर्वथा अधिकारी हैं, आप संस्कृतसाहित्य के और हिन्दी के एम० ए० हैं, अँग्रेज़ी के विद्वान् हैं, कानून के पण्डित (एल-एल० बी०) हैं, इससे अपने प्रतिपाद्य विषय को युक्तियुक्त प्रकार से, शास्त्रीय शैली से सुलझाकर समझा सकते हैं।

यह पुस्तक स्कूलों के विद्यार्थियों और अध्यापकों के काम की चीज़ है। हिन्दी-साहित्य के साधारण जिज्ञासु जन भी इससे बहुत सी बातें जान सकेंगे। इस रचना के लिए मैं लेखक का अभिनन्दन करता हूँ।

श्रावणी, शुक्रवार
संवत् १९८८ वि०

—पद्मसिंह शर्मा

विषय-सूची

हिंदी साहित्य

हिंदी-भाषा तथा उसकी उत्पत्ति

भाषा के दो रूप

प्रत्येक देश में भाषा के दो रूप होते हैं। एक का नाम साहित्यिक भाषा होता है और दूसरी वह जो जनसाधारण के बोल-चाल की भाषा होती है। भारतीय साहित्य के सब से प्राचीन ग्रन्थ वेदों में भी इस बात का प्रमाण मिलता है। ऋग्वेद के एक मंत्र का आशय है कि भाषा के चार भिन्न भिन्न रूप प्रचलित हैं जिन्हें केवल विद्वान् ब्राह्मण ही जानते हैं; इनमें से तीन तो अत्यन्त क्लिष्ट हैं और चौथा रूप वह है जिसमें लोग साधारण रीति से बातचीत करते हैं:—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
[मं० १, १६४, ४५]

इस मन्त्र में आये हुए 'पद' शब्द से भिन्न भिन्न विचार के टीकाकारों ने भिन्न भिन्न तात्पर्य निकाले हैं, पर इस बात पर प्रायः सभी एक मत हैं कि चतुर्थ-(तुरीय)-पद से तात्पर्य उस

बोली से है जिसका प्रयोग उस समय जनसमाज में साधारण रूप से होता था। फिर वाल्मीकीय रामायण से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। हनुमानजी ने अशोक वाटिका में सीता जी से प्राकृत (जनसाधारण की भाषा) में ही बोलना उचित समझा था। आगे चलकर कालिदास के समय में भी इस बात का प्रमाण मिलता है। यथार्थ में बात यह है कि कोई भी भाषा सदा एक रूप में स्थिर नहीं रहती। भाषा के जिस रूप को विद्वान् लोग व्याकरण के नियमों से जकड़ देते हैं उसका विकास वहीं रुक जाता है, और तब उसी जनसाधारण की बोलचाल की भाषा का धीरे धीरे साहित्यिक संस्कार होने लगता है; और अशिक्षित अथवा अल्पशिक्षित लोगों की बोली इस नवीन साहित्यिक भाषा से फिर अलग होने लगती है। कुछ समय के उपरान्त दूसरा परिवर्त्तन आरम्भ हो जाता है और फिर वही सर्वसाधारण की भाषा साहित्य के सिंहासन पर आरूढ़ होकर पहले की साहित्यिक भाषा को पदच्युत कर देती है; और यही उलट फेर निरन्तर होता रहता है। हमारी आर्य-भाषा का भी यही हाल हुआ है।

आर्यों की आदि भाषा

कुछ भाषातत्त्वज्ञों का अनुमान है कि सृष्टि के आरम्भकाल में सब मनुष्य एक ही स्थान—मध्य एशिया में रहते थे और उस समय उनकी भाषा एक थी। इस बात का प्रमाण यह है कि आर्यों की पुरानी भाषा-वैदिक संस्कृत में नित्य प्रति व्यवहार में

आनेवाले अधिकांश शब्द ऐसे हैं जिनसे मिलते जुलते हुए बहुत से शब्द एशिया तथा यूरप की भिन्न-भिन्न भाषाओं में मिलते हैं। पिता, माता, भ्राता, आदि शब्द सामान्य उच्चारण भेद से, संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, अँग्रेज़ी, तथा फ़ारसी आदि भाषाओं में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। आदिम स्थान से जहाँ आर्यजाति एक साथ ही रहती थी, वंशवृद्धि होते होते लोगों को स्थानाभाव होने लगा और अन्यत्र जाने की आवश्यकता पड़ी। कुछ लोग जो पश्चिम की ओर चले, ईरान और तुर्किस्तान होते हुए यूरप पहुँचे और वहाँ यूनानी, लेटिन, जर्मन, तथा अँग्रेज़ी आदि भाषाओं की उत्पत्ति हुई, और कुछ लोग दक्षिणपूर्व की ओर चले और अफग़ानिस्तान होते हुए सिन्धु नदी के किनारे पहुँचे। आर्यों का जो दल पंजाब में आकर बस गया उसी की परिमार्जित भाषा का नाम संस्कृत है। परन्तु स्मरण रहे कि पहले ही से इस भाषा का नाम संस्कृत नहीं था। संस्कृत नाम तो उसका उस समय हुआ जब वैयाकरणों ने उसको परिमार्जित करके भली भाँति नियमबद्ध कर दिया। संस्कृत शब्द का अर्थ ही परिमार्जित (refined) है। पहले जिस भाषा में हमारे पूर्वज बात चीत करते थे वह 'प्राकृत' कही जाती थी और वेद मन्त्रों की भाषा 'देववाणी' कही जाती थी। महर्षि पतञ्जलि का कहना है कि यह 'देववाणी' अत्यन्त क्लिष्ट थी और न तो यह सर्वसाधारण के समझ में आ सकती थी

न व्याकरण के नियमों से ही बद्ध थी। * पर इस कठिन भाषा के साथ ही साथ सर्वसाधारण की प्राकृत भाषा का विकास होता रहा।

प्राकृत

परन्तु इस 'प्राकृत' भाषा से हमारा मतलब उस साहित्यिक प्राकृत से नहीं है जो शकुन्तला आदि नाटकों में देखने में आती है। पाणिनि के समय तक प्राकृत का साहित्य में प्रयोग नहीं होता था। पर ईसा से प्रायः चार सौ वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने अपने मत का प्रचार करना प्राकृत भाषा में ही उचित समझा क्योंकि यही भाषा जनसाधारण के लिए सुबोध थी और यही भाषा कालान्तर में 'पाली' के नाम से प्रसिद्ध हुई। पाली को ही कुछ लोग 'दूसरी' प्राकृत या पुरानी प्राकृत कहते हैं। बौद्ध और जैन ग्रन्थ इसी भाषा में लिखे जाने लगे। उस समय पाली का महत्त्व संस्कृत से कम न था। इसी पाली का आगे चलकर एक सरल रूप तैयार हुआ जिसको हम लोग संस्कृत के नाटकों में देखते हैं। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों की बोलियाँ भिन्न-भिन्न थीं। इसका प्रधान कारण यह था कि संस्कृत की भाँति ये बोलियाँ व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई नहीं थीं। साहित्य में तो सर्वत्र सर्वमान्य (standard) भाषा का ही व्यवहार होता था पर दूर दूर

---

* यहवो हि शब्दा येपामर्था न विज्ञायन्ते जर्फरी तुर्फरी तु।
न सर्वैं लिंगैर्न सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदमन्त्रा निगदिताः॥

प्रान्तों के अधिवासी अपनी रोज़मर्रा की बोली में सदा से कुछ न कुछ विशेषता रखते आये हैं* । आज भी यहाँ की आधुनिक भाषाओं में भी विशेषता चली जा रही है। उस समय मथुरा के और दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली प्राकृत शौरसेनी प्राकृत कहलाती है तथा मगध देश, गया, पटने, के आस पास की भाषा मागधी, और दक्षिण की प्राकृत का नाम महाराष्ट्री हुआ। मगध देश तथा पश्चिमोत्तर देश के बीच के प्रान्तों में बोली जानेवाली प्राकृत में शौरसेनी तथा मागधी दोनों ही के कुछ कुछ लक्षण मिलते हैं। इसलिए यह 'अर्द्धमागधी' नाम से प्रसिद्ध हुई। समय के साथ साथ इन भाषाओं का भी साहित्य में प्रयोग होने लगा और कई नाटक तथा काव्य इस प्राकृत भाषा में जिसे कुछ लोग 'तीसरी' प्राकृत कहते हैं —लिखे गये। वररुचि और हेमचन्द्र ने प्राकृत भाषा के व्याकरण भी बनाये। जिस समय प्राकृत पूर्ण रूप से साहित्यिक भाषा हो चली थी और व्याकरण से नियमबद्ध की जा रही थी, उस समय साधारण बोलचाल की भाषा इससे अलग होती जा रही थी। यह भाषा इसी का विकसित रूप थी जो कालान्तर में 'अपभ्रंश' कहलाई। अपभ्रंश किसी भाषा या किसी शब्द के बिगड़े हुए रूप (Corrupt form) को कहते हैं, पर वास्तव में वह भाषा

---

* वाल्मीकीय रामायण तथा वेदों में इस बात का प्रमाण मिलता है कि भिन्न भिन्न प्रान्तों की बोलियां भिन्न भिन्न थीं।

या शब्द का विगड़ा हुआ रूप नहीं वल्कि विकसित रूप है। जिस शब्द को शास्त्रज्ञ लोग विशुद्ध रूप से उच्चारण करते हैं उसी को अशिक्षित या शुद्धाशुद्ध की परवाह न करनेवाले उच्चारण की सुगमता की दृष्टि से मनमाना तोड़ मरोड़ डालते हैं। इसी प्रकार कुछ समय के उपरान्त यही सब दूसरे ही शब्द प्रतीत होने लगते हैं, और जब इन्हीं विगड़े हुए अथवा विकास को प्राप्त शब्दों का साहित्य में भी प्रयोग होने लगता है तब वह एक नई ही भाषा के शब्द कहलाने लगते हैं। कभी अशिक्षितों के अशुद्ध उच्चारण से भाषा का स्वरूप न बदल जाय इसी भय से विद्वानों ने प्राकृत भाषा का एक नया रूप स्वीकार किया था। पर भाषा का स्रोत कभी वैयाकरणों के प्रयत्न से नहीं रुका और अपभ्रंश एक स्वतन्त्र भाषा होही गई। यहाँ तक कि प्राकृत के अन्तिम वैयाकरण हेमचन्द्र को अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धहेमचन्द्र' में 'अपभ्रंश' को एक स्वतन्त्र भाषा स्वीकार करना पड़ा। हेमचन्द्र का समय ग्यारहवीं सदी माना गया है। हमारी आधुनिक भाषा की उत्पत्ति इसी अपभ्रंश से हुई है। इस अपभ्रंश को भी कुछ दिन तक साहित्यिक भाषा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, पर इसमें साहित्य वहुत थोड़ा मिलता है और जो मिलता है वह भी वहुत फुटकर। किसी प्रसिद्ध अपभ्रंश लेखक का आजतक पता नहीं चला। वहुत से फुटकर पद्य विशेषतः दोहे मिलते हैं। केवल जैन साधु हेमचन्द्र जो अनहिलवाड़ा के राजा कुमारपाल सोलंकी के समय में विराज-

मान थे, अपने ग्रन्थ को अपभ्रंश में लिखा हुआ बतलाते हैं। इनके दिये हुए उदाहरणों की भाषा और पुरानी हिन्दी में केवल नाममात्र का भेद प्रतीत होता है। इस भाषा का एक नमूना देखिये—

ढोला मैं तुहि वारिया मा करु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी दड़वड़ होइ विहाणु॥
भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेजन्तु वयस्सिनहु जई भग्गा घर एन्तु॥

इस भाषा और पृथ्वीराज-रासो की भाषा में बहुत ही सामान्य अन्तर हो सकता है, पर फिर भी ग्रन्थकार न जाने क्यों इसे अपभ्रंश कहता है। अनहिलवाड़ा गुजरात में है परन्तु इसीसे यह समझ लेना कि आधुनिक हिन्दी की उत्पत्ति पुरानी गुजराती से हुई है, भ्रम है। क्योंकि यह भाषा जिसका कि नमूना ऊपर दिया गया है पुरानी गुजराती नहीं है। पश्चिम राजपुताने के भाट (bards) और चारण जिस भाषा में अपनी वीर-गाथाएँ लिखा करते थे उसका नाम उन्होंने 'डिंगल' रखा था और व्रज-भाषा को वे 'पिंगल' कहा करते थे। यह डिंगल भाषा जो कि 'नागर' अपभ्रंश का ही विकास है, भाषातत्त्व की दृष्टि से बड़े महत्त्व का स्थान रखती है क्योंकि शौरसेनी, अपभ्रंश और आधुनिक गुजराती तथा मारवाड़ी के बीच का सम्बन्ध इसी डिंगल से ही स्थापित

होता है।* इसके अतिरिक्त रायबहादुर लाला सीताराम बी० ए० के सिरोही राज्य के इतिहास (History of Sirohi Raj) में यह दिखलाया गया है कि सोलंक पहले अयोध्या का ही एक भाग था। जहाँ से सोलंकी पहले दक्खिन गए और वहीं से फिर गुजरात आये। सबसे प्रथम मूलराज सोलंकी ने ही चवर राज सामंतसिंह को मारकर अनहिलवाड़े में सोलंकी राज्य की स्थापना की। मूलराज ने सिद्धपुर में एक बड़ा भारी शिवजी का मन्दिर बनवाया और मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा के शुभ अवसर पर मध्यप्रदेश से अनेक ब्राह्मणों तथा विद्वानों को बुलाकर अपने राज्य में बसाया। ये ब्राह्मण प्रायः एक सहस्र की संख्या में प्रयाग, काशी, कन्नौज, तथा कुरुक्षेत्र आदि नगरों से आए थे। ये उत्तर से आये थे इसलिए इनका नाम औदीच्य रक्खा गया था। इन ब्राह्मणों का प्रभाव उस प्रान्त के साहित्य पर जो पड़ा होगा उसका सहज ही में अनुमान किया जा सकता है।

---

* Cf. Sir G. Grierson :—We have thus a connected chain of evidence as to the growth of the Gujrati language from the earliest times. We can trace the old Vedic language through Prakrit down to the Apabhramsa from the verses of Hemachandra down to the language of a Parsi Newspaper. No single step is wanting. The line is complete for nearly four thousand years. (Linguistic Survey of India, Vol. ix. part ii. P. 327.)

पुरानी हिन्दी

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुजरात की एक पुरानी बोली युक्तप्रांत की आधुनिक हिन्दी की जननी नहीं है। उसी प्रकार पृथ्वीराज-रासो की भाषा को भी पूर्णरूप से यहाँ की आधुनिक हिन्दी की जननी मान लेना ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि राजस्थान के पुराने चारण (bards) अपनी वीर-गाथाओं में किसी सर्वमान्य साहित्यिक भाषा का प्रयोग तो करते नहीं थे क्योंकि ऐसी कोई भाषा तबतक सर्वस्वीकृत नहीं हो सकी थी। जो कवि जहाँ का होता था वह वहीं की भाषा काम में लाता था। इसके अतिरिक्त कर्नल टाड, टेसी-टरी, तथा ग्रियर्सन आदि विद्वान् आभ्यंतरिक प्रमाणों से इस निर्णय पर पहुँच चुके हैं कि राजस्थान में उन दिनों 'कवि' वही कहा जा सकता था जिसकी योग्यता असाधारण हो और जिसका अधिकार संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा विभिन्न प्रान्तिक बोलियों पर समान रूप से हो। वीर-गाथाओं के लिखनेवाले 'कवीश्वर' कम से कम छः भाषाओं में प्रवीण होते थे। ऐसी अवस्था में भाषा के विषय में उनका निरंकुश होना स्वाभाविक ही है। एक ही ग्रन्थ की भाषा में भिन्न-भिन्न बोलियों का प्रयोग देखने में आता है। पृथ्वीराज-रासो में भी यही हाल है, यहां तक कि पास ही पास रखे हुए दो छन्दों की भाषा में आकाश पाताल का अन्तर है।

इन बातों का सारांश यही है कि यह कहना कदापि असंदिग्ध नहीं हो सकता कि राजस्थान अथवा गुजरात की किसी पुरानी भाषा से ही संयुक्त प्रान्त की हिन्दी निकली है। उस समय इस प्रान्त (संयुक्त प्रान्त) में जिस अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा होगा उसी से यहाँ की आधुनिक हिन्दी की उत्पत्ति हुई है। मथुरा और दिल्ली के आसपास शौरसेनी 'अपभ्रंश' का प्रचार था। अत; पश्चिमी हिन्दी को 'शौरसेनी' अपभ्रंश की संतान मान लेने में हमको कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती (डा० चटर्जी तथा ग्रियर्सन का भी वर्तमान पूर्वी हिन्दी के बारे में यही मत है)। अभी तक यही स्थिर है कि इसकी उत्पत्ति 'अर्द्धमागधी' अपभ्रंश से हुई। अर्द्धमागधी प्राकृत के अस्तित्व को तो सभी मानते हैं। डा० उलनर ने अपनी पुस्तक 'इनट्रोडक्शन टु प्राकृत' में अर्द्धमागधी प्राकृत का अस्तित्व स्वीकार किया है और इसके लक्षण भी दिये हैं, पर अर्द्ध-मागधी अपभ्रंश का अस्तित्व काल्पनिक है। इसकी कल्पना इस आधार पर की गई है कि यदि अर्द्धमागधी नामकी प्राकृत की कोई साहित्यिक भाषा थी तो उसका कोई न कोई अपभ्रंश रूप अवश्य ही साधारण श्रेणी के लोगों में प्रचलित रहा होगा यद्यपि इस अपभ्रंश में किसी प्रकार के साहित्य का पता अभी तक नहीं लगा है।

पुरानी हिन्दी का उत्पत्तिकाल

किस निश्चित समय से हिन्दी ने अपना आधुनिक रूप धारण करना आरम्भ किया इसका निश्चय अभी तक निर्विवाद रूप से नहीं हो पाया है। डा० ग्रियर्सन भी इस विषय में असंदिग्ध नहीं हैं। उनका विचार है कि ई० सन् १००० से हिन्दुस्तानी आर्य-(इन्डोआरयन्) भाषाओं ने अपना आधुनिक स्वरूप धारण करना आरम्भ किया होगा।

पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी

हमारे भारतवर्ष में एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि यहाँ एक ही प्रान्त में कई प्रकार की बोलियाँ बोली जाती हैं। यों तो पश्चिम में यमुना के जल-प्रपात से लेकर पूर्व में राजमहल तक हिन्दी बोली जाती है पर इतने ही स्थान के अन्दर हिन्दी की कई बोलियाँ (dialects) बोली जाती हैं। इनमें मुख्य दो भेद हैं—पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी में मुख्य ब्रजभाषा है और पूर्वी में अवधी। पूर्वी के अन्तर्गत छत्तीसगढ़ी और बघेली भी है पर साहित्य की दृष्टि से उनका कोई विशेष मूल्य नहीं है। उसी प्रकार पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत ब्रजभाषा के अतिरिक्त खड़ीबोली, कनौजी, बुन्देली और बाँगड़ू हैं। इनमें से कनौजी में कुछ प्राचीन साहित्य है और खड़ीबोली पहले तो नहीं परन्तु वर्तमान समय में यह सुगम साहित्य-नाटक, उपन्यास आदि के लिए सबसे

अधिक उपयोगी भाषा सिद्ध हुई है और दिन-दिन इसकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही है।

पश्चिमी हिंदी की सीमा

पश्चिमी हिंदी की सीमा भाषातत्त्वज्ञों ने इस प्रकार निर्धारित की है—पश्चिम में सरहिंद (पंजाव), तथा पूर्व में प्रयाग, उत्तर में हिमालय की तराई तक परन्तु दक्षिण में यमुना से अधिक आगे नहीं।

व्रजभाषा, साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसकी जन्मभूमि मथुरा प्रान्त है, और 'दोआवे' में दिल्ली से लेकर इटावा तक वोली जाती है। गुड़गाँव तथा भरतपुर और करौली राज्य में भी व्रजभाषा वोली जाती है।

डा० ग्रियर्सन के अनुसार पश्चिमी हिन्दी वोलने वालों की संख्या (सन् १६०४ में) प्रायः ४, १०,००,००० थी तथा इसमें से केवल व्रजभाषा वोलने वालों की संख्या ८० लाख से कुछ अधिक थी।

पूर्वी हिन्दी की सीमा

पूर्वी हिन्दी का विस्तार प्रायः छः प्रदेशों में फैला हुआ है—अवध, पश्चिमोत्तर प्रान्त, वघेलखंड, छोटा नागपुर, तथा मध्यप्रान्त का कुछ भाग। अवधमें तो हरदोई तथा फैज़ावाद ज़िले के कुछ हिस्सों को छोड़कर पूर्ण रूप से इसका साम्राज्य है।

पश्चिमोत्तर प्रान्त में साधारण रूप से इसका प्रसार बनारस से लेकर बुन्देलखंड के हमीरपुर ज़िले तक है । मध्यप्रांत के जबलपुर तथा मंडला ज़िलों में और छत्तीसगढ़ के अधिकांश स्थानों में भी इसी भाषा का प्रचार है। बघेलखंड में पूर्णरूप से, बुंदेलखंड के पश्चिमोत्तर प्रदेश में, मिर्ज़ापुर ज़िले के दक्षिण भाग में, तथा सरगुजा कोरिया आदि रियासतों में भी अवधी का ही प्रचार है। इसके अतिरिक्त विहार प्रान्त के अधिकांश मुसलमान भी अवधी बोलते हैं।

सन् १९०४ में डा० ग्रियर्सन की गणना के अनुसार १,६०,००,००० से कुछ अधिक मनुष्य अवधी बोलनेवाले केवल उस भूभाग में हैं जहाँ की यह मातृभाषा है। विहार प्रान्त में अवधी बोलने वाले मुसलमानों की संख्या लगभग ९,००,००० है। नैपाल की तराई में अवधी बोलने वाले कम से कम १० लाख होंगे । बङ्गाल में प्रायः १ लाख से ऊपर तथा आसाम में प्रायः ३२ हज़ार आदमी हिन्दी बोलते हैं।

हिन्दी का शब्दभंडार

वर्तमान समय में हिन्दी के शब्द-भंडार में पाँच प्रकार के शब्द पाये जाते हैं—तत्सम, तद्भव, अर्द्धतत्सम, देशज, और विदेशी। इनमें से यथार्थ हिन्दी के शब्द वे तद्भव शब्द हैं जो संस्कृत से विकसित होकर आए हैं, जैसे दूध (दुग्ध), दही (दधि), इत्यादि । इनके बाद तत्सम शब्दों का नम्बर आता है। तत्सम शब्द का अर्थ है 'उसी के अर्थात् संस्कृत

के समान, ऐसे शब्द जैसे 'राजा' 'जल' मनुष्य' इत्यादि शुद्ध संस्कृत के शब्द हैं, और इनका प्रयोग हिन्दी में इसी विशुद्ध रूप में होता है। ऐसे शब्दों की संख्या इस समय की उच्च हिन्दी में दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। यह इस बात का परिचायक तो है ही कि हिंदी का सम्बन्ध जितना संस्कृत से है उतना प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषाओं से नहीं, परंतु साथ इससे भाषा की दुर्बलता का भी परिचय प्राप्त होता है। मध्यकालीन सूर और तुलसी की भाषा में इन तत्समों को संख्या इसके मुक़ाबिले में बहुत कम है। अर्द्ध-तत्सम उन शब्दों को कहते हैं जो थे तो पहले तत्सम, पर जिनका स्वरूप प्राकृत बोलने वाले जन-समुदाय द्वारा कुछ बिगड़ गया है, जैसे 'ज्ञान' के स्थान में 'ग्यान'; यज्ञ के स्थान पर 'यग्य' आदि। 'देशज' उन शब्दों को कहते हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से नहीं है। कहा जाता है कि जब आर्य लोग हिन्दुस्तान में आये तो उन्हें बहुत सी ऐसी नई वस्तुएँ देख पड़ीं जिनके लिए शब्द उनकी अपनी भाषा में न थे, इसलिए उन्हें ऐसी वस्तुओं के लिये देश के आदिम निवासियों के शब्द ले लेने पड़े। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि इन नई वस्तुओं के आकार और ध्वनि के आधार पर आर्यों ने स्वयं गढ़ लिये। इसी से कुछ विद्वान् उन्हें अनुकरणात्मक (Onomatopoetic words) कहते हैं। परन्तु अधिकतर भाषातत्त्वज्ञों की धारणा यह है कि ये पहले संस्कृत के ही शब्द थे और इस समय दीर्घकाल से

प्रयुक्त होते होते इतने बिगड़ गये हैं कि उनके शुद्ध रूप का पता लगाना असम्भव सा हो गया है। परन्तु प्रति दिन भाषातत्त्वज्ञों की खोज (research) द्वारा बहुत से देशज शब्दों के शुद्ध रूप मिलते जा रहे हैं और आशा है कि आगे चल कर इस खोज में बहुत कुछ सफलता प्राप्त होगी। इसी आशा पर उक्त सिद्धान्त स्थिर है। पर यह सब होते हुए भी यह किसी भी प्रकार से निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये देशज शब्द आर्यशब्दों (Aryan words) के अंतर्गत हैं अथवा अनार्य शब्दों (Non-Aryan words) के, क्योंकि बहुत से शब्द शुद्ध संस्कृत अथवा प्राकृत के होते हुए भी अनार्य उत्पत्ति के हो सकते हैं। यह विषय अभी बहुत वादग्रस्त है।

विदेशी शब्द

इन चार प्रकार के शब्दों के सिवाय बहुत से विदेशी शब्द भी हिन्दी में मिल गए हैं और नित्य प्रति मिलते जा रहे हैं। हिन्दुस्तानियों का अतिथिसत्कार जगत्प्रसिद्ध है और यह गुण यहाँ की भाषा में भी पूर्णरूप से विद्यमान है। पहले यहाँ मुसलमान आये और उनके साथ हिन्दुओं के विचार-विनिमय तथा सहवास से उनके बहुत से शब्द अरबी और फ़ारसी के हमारे घरेलू शब्दों में मिल गये और यहाँ तक कि सूर और तुलसी जैसे महाकवियों ने अपने काव्यों में इन शब्दों को सहर्ष स्थान दिया। अब इस समय अँग्रेज़ी के बहुत से शब्द हमारी मातृभाषा में मिल रहे हैं। इनको अभी स्थायी साहित्य

में स्थान नहीं मिला है पर लक्षण कुछ ऐसे ही दिखलाई पड़ रहे हैं कि कुछ ही दिनों में वह समय भी आ जायगा। इनके सिवाय तुर्की, पोर्तुगीज़, बँगला, मराठी आदि के भी बहुत से शब्द हिंदी में आ गये हैं। इधर थोड़े दिनों से गद्य साहित्य की उन्नति के साथ बंगला और अँग्रेज़ी के नाटकों और उपन्यासों के अनुवाद बहुत हुए हैं और होते जा रहे हैं। इससे शब्दों के अतिरिक्त वाक्यविन्यास (construction) में भी बहुत कुछ विदेशीपन और निरालापन भर रहा है, यहाँ तक कि इन विदेशी प्रान्तीय भाषाओं के न जानने वाले को प्रायः आधुनिक हिन्दी ठीक ठीक समझने में असुविधा होती है।

हिंदी का नामकरण

कुछ लोगों का कहना है कि 'हिन्दी' अथवा 'हिन्दू' नाम मुसलमानों के रक्खे हुए हैं; पर यह भ्रम है। क्योंकि इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि मुसलमानों के आने के हज़ारों वर्ष पहले हमारे देश को ईरान के रहनेवाले 'हिन्द' और यहाँ के निवासियों को 'हिन्दी' कहते थे। आज से पाँच हजार वर्ष पहले पारसियों की प्रधान धर्म पुस्तक "दसातीर" में इस देश का नाम "हिंदू" लिखा हुआ मिलता है। वास्तव में 'हिन्दू' शब्द सिन्धु शब्द का रूपांतर है। ईरान वाले दंत्य 'स' को सदा 'ह' कहकर उच्चारण करते हैं। 'सिंधु' नाम की पंजाब की एक प्रसिद्ध नदी है उसे यूनानवाले 'इंडस्' कहते थे और 'इंडिया' और 'इंडियन' शब्दों की उत्पत्ति इसी से हुई है। आर्यों का आदिम निवास-स्थान

पंजाब था, जिसे पहले 'सिंधु' देश कहते थे और वहाँ के निवासी 'सैंधव' कहे जाते थे। इसी 'सैंधव' का उच्चारण ईरानी के मुख से 'हैंदव' होगा और यही 'हैंदव' शब्द उच्चारण की सुगमता के कारण "हिंदू" हो गया। फ़ारसी में 'हिन्दू' या 'हिंदी' शब्द 'हिन्दू' धर्मानुयायी मनुष्य के अर्थ में व्यवहृत होता है। अमीर ख़ुसरो ने एक जगह अपने "ग़ुर्रतुल कमाल" नामक ग्रंथ में "हिन्दी" शब्द हिन्दुस्तान के रहनेवाले के अर्थ में प्रयोग किया है। पर 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग जब भाषा के संबन्ध में होता है तो उसके अंतर्गत हिन्दुस्तान की सभी भाषायें आ जाती हैं। डा० ग्रियर्सन की भी यही धारणा है। 'ग़यासुल्लुग़ात' में हिन्दू शब्द का अर्थ और ही कुछ किया गया है;* परंतु स्पष्टतः मतमतांतर के द्वेष से ही ऐसा किया गया है। पर यह प्रश्न रहा जाता है कि इस शब्द का प्रयोग किसी भी प्राचीन संस्कृत ग्रंथ में क्यों नहीं मिलता। इस प्रश्न का उत्तर कुछ आधुनिक विद्वान् इस प्रकार देते हैं। उनका कथन है कि संस्कृत ग्रंथों में इसका उल्लेख इसलिए नहीं मिलता कि यह शब्द संस्कृत का नहीं है। हमने विदेशियों (ईरानियों) के रखे हुए अपने इस नाम को 'कौतूहलवश' स्वीकार किया। फिर ईरानियों और हिंदुस्तानियों के नित्य के संसर्ग और घनिष्ठता के कारण यह शब्द हमारा घरेलू शब्द सा होगया और फिर बराबर प्रयुक्त होने लगा; प्रायः

* इस कोष में 'हिंदू' का अर्थ 'चोर', 'डाकू' लिखा हुआ है।

सभी विद्वानों का कथन है कि 'हिन्द' शब्द का प्रयोग आधुनिक भाषा के अर्थ में अभी थोड़े समय से होने लगा है। पहले इसे लोग 'हिन्दुई' कहते थे। यह शब्द हमें 'सैन्धवीय' शब्द का विकास मालूम होता है।

हिन्दी का पुराना नाम 'भाषा' या 'भाखा' भी है। संस्कृत के विद्वान् अब तक हिंदी को 'भाषा' ही कहते हैं। 'हिन्दुवी' शब्द का प्रयोग पहले-पहल जटमल की 'गोराबादल की कथा' में देखने में आता है।

'खड़ीबोली' का प्रयोग आधुनिक हिंदी भाषा के अर्थ में सबसे पहले लल्लूलालजी ने अपने "प्रेमसागर" में किया है।

खड़ी बोली के साहित्यिक रूप

खड़ी बोली के तीन मुख्य साहित्यिक रूप वर्तमान समय में देखने में आ रहे हैं। प्रथम "शुद्ध हिंदी", इसमें संस्कृत के शब्द अधिक रहते हैं और आज-कल के हिन्दी के विद्वान् गंभीर विषय इसी में लिखते हैं। दूसरा रूप है "हिन्दुस्तानी"। यह यहाँ की शिक्षितों की बोलचाल की भाषा (Colloquial language) का नाम है। हिन्दी में उपन्यास, नाटक और अन्य प्रकार का सुगम साहित्य इसी में बन रहा है। हिंदी के इस रूप की उन्नति नित्यप्रति बड़े वेग से होती जा रही है और देश के कुछ

बड़े बड़े विद्वान् और साहित्यिक संस्थायें "हिन्दुस्तानी" की उन्नति की ओर अग्रसर हो रही हैं और यथासंभव आधुनिक भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों को केवल भाषा का साहित्यिकपन बढ़ाने के विचार से साहित्य में अनावश्यक स्थान देने की प्रथा घट रही है। हिंदी का तीसरा आधुनिक रूप "उर्दू" है। "उर्दू" हिंदी का वह रूप है जिसमें अरबी और फ़ारसी के शब्दों का आधिक्य होता है (और जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है)। समष्टि रूप से विशुद्ध हिंदी, हिंदुस्तानी, तथा उर्दू तीनों को हम 'खड़ी बोली' कह सकते हैं।

हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

विषय प्रवेश

आजकल हम लोग जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसका प्राचीन रूप किस प्रकार प्राकृत तथा अपभ्रंश से विकसित हुआ था यह हम ऊपर देख चुके हैं। अब यथासंभव संक्षिप्त रीति से यह देखना है कि उत्पत्ति काल से आज प्रायः एक हज़ार वर्ष तक के अन्दर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में यहाँ के साहित्य-निर्माताओं ने क्या लिखा और उनकी चित्तवृत्तियां क्या थीं। प्रत्येक देश के साहित्य पर वहाँ के जनसमुदाय का विचार-प्रतिबिम्ब स्थायी रूप से पड़ जाता है। राजनैतिक, सामाजिक तथा साम्प्रदायिक परिस्थितियों के कारण जनता के विचार तथा चित्तवृत्तियों में समय-समय पर परिवर्तन होने के साथ ही साथ साहित्य में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिए साहित्य के साथ ही साथ भिन्न-भिन्न काल की जनता की विचार-धारा का दिग्दर्शन कर लेना आवश्यक है।

हिंदी-साहित्य का इतिहास-लेखन

हिंदी-साहित्य के इतिहास लिखने की ओर अभी थोड़े दिन से ध्यान दिया जाने लगा है. सब से पहला प्रयत्न शिवसिंह सेंगर ने उन्नीसवीं सदी में किया था। इनके ग्रंथ 'शिवसिंह-

सरोज' में हिंदी के कवियों की एक सूची और कुछ उदाहरणों के अलावा कुछ विशेष सामग्री नहीं है। डा० ग्रियर्सन ने इन्हीं को आधार माना है। इनका 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदोस्तान' बहुत ही वैज्ञानिक रूप से लिखा गया है और इस ग्रंथ के प्रकाशित होने के बाद (१९०४) में यहां के उच्च शिक्षाप्राप्त विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। सन् १९१३ में प्रसिद्ध ग्रंथ 'मिश्रबन्धु-विनोद' प्रकाशित हुआ। यह हिंदी में अपने ढंग का पहला ग्रंथ तैयार हुआ और इससे हिंदी के बहुत से कवियों का सूक्ष्म परिचय प्राप्त हो जाता है। प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् गार्सिन-द-तासी ने अपने ही देश में बैठ कर यहां के साहित्य का एक बहुत ही गवेषणापूर्ण इतिहास तैयार किया है और इनके ग्रंथ का विद्वानों में विशेष आदर है। सन् १९१८ में बनारस के विद्वान् पादरी ग्रीव्स (Greaves) साहब ने हिंदी-साहित्य का एक इतिहास बनाया। अभी हाल ही में काशी-विश्वविद्यालय के अध्यापक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने एक हिंदी-साहित्य का विद्वत्तापूर्ण इतिहास लिखा है और राय-साहब बाबू श्यामसुंदरदास ने भी हिंदी भाषा और साहित्य का एक अच्छा इतिहास रचा है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त नागरी-प्रचारिणी-सभा से भी समय-समय पर भाषा के इतिहास-सम्बन्धी पत्र और रिपोर्ट आदि निकला करते हैं। उक्त सभा में पुराने कवियों का खोज सम्बन्धी कार्य बड़ी तन्मयता से

होता है और विद्वानों की खोज सम्बन्धी रिपोर्टों का वक्तव्य बहुत कुछ प्रामाणिक माना जाता है।

हिंदी-साहित्य के उत्पत्ति काल की परिस्थितियां

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ किस सदी से हुआ है यह अभी तक ठीक-ठीक निश्चय नहीं किया जा सका है। नवीं से लेकर ग्यारहवीं सदी के बीच में किसी समय हिंदी-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय हिन्दुस्तान में राजपूतों का प्राधान्य था और आपस में वैमनस्य रहने के कारण वे प्रायः एक दूसरे से लड़ते भिड़ते रहते थे। वे अभिमानी और चाटुप्रिय परले सिरे के होते थे और अपनी विरुदावली गानेवाले भाटों का बड़ा आदर करते थे। हमारा प्रारम्भिक साहित्य इन्हीं भाटों की गाई हुई विरुदावलियों के रूप में है। ये भाट जिनकी वीरगाथायें गाया करते थे उनके समसामयिक होते थे और युद्धों में उन्हीं के साथ-साथ रहकर वीर-रस के उद्दीपक पदों को गागाकर सैनिकों को उत्तेजित भी करते जाते थे। इस प्रकार भीषण युद्धों के कोलाहल में तथा राष्ट्र-विलपवों की विपद् के बीच घोर अशांति में हमारे हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति हुई है। परन्तु स्मरण रहे कि इस समय केवल उत्पत्ति ही भर हुई थी, किसी को लिखने की फ़ुरसत नहीं थी। सैकड़ों बरस तक इन भाटों अथवा चारणों के बनाए हुये उत्तमोत्तम छंद उनके वंशधरों ने कंठाग्र ही रक्खे।

वे लोग विशेष-विशेष अवसरों पर राजाओं के वंशधरों और उत्तराधिकारियों को गाकर या पढ़कर सुना दिया करते और उचित पुरस्कार पाते थे। मुसलमानों के राज्य के स्थापित हो जाने पर जब लड़ाई भिड़ाई बंद हुई तब कुछ राजाओं को मुख्य-मुख्य विरुदावलियों को लिपिवद्ध कराने की सूझी और उन्होंने बहुत सी उत्तमोत्तम वीरगाथायें लिखवाईं। परन्तु दीर्घकाल तक मौखिक रहने के बाद लिपिवद्ध होने के कारण इन गाथाओं को हम इस समय उनके यथार्थ रूप में नहीं देख सकते और इनके पाठ में असंख्य अशुद्धियाँ देखने में आती हैं। हम पहले कह चुके हैं कि ये चारण जिस-जिस महापुरुष का गुणगान करते थे, उसी के समसामयिक होते थे, और उन्हीं के अनुसार उनके समय का निर्णय किया जाता है। कभी-कभी अपना रचनाकाल कोई कवि दे भी देता है जैसे 'नल्ह' (,) परन्तु यह अधिकतर अप्रामाणिक होता है।

सब से पहली वीरगाथा जिसका पता लगा है चित्तौड़ के रावल 'खुमान' के ऊपर लिखी गई है। खुमान से पहले के कुछ और चारणों के नाम भी प्रसिद्ध हैं पर उनके किसी ग्रंथ का पता आज तक नहीं लगा। इनके नाम ये हैं—पुष्य (या पुंड) केदार, अनन्यदास, मसौद, कुतुब अली, और अकरम फैज। अस्तु। सं० ८१० और १००० के बीच में खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं, पर कर्नल टाड इन तीनों को एक ही मानते हैं। इस कथा में बग़दाद के ख़लीफ़ा 'अल्मामून्' के साथ खुम्माण के युद्ध का वर्णन है। अल्मामून् सं० ८७० से ८९० तक खलीफ़ा रहा। कालभोज (बाप्पा) से लेकर तीसरे खुमान तक की वंशपरंपरा मिलाने से स्पष्ट हो जाता है कि ८७० और ८९० के बीच में गद्दी पर दूसरा खुमान ही रहा होगा। इस ग्रंथ का रचयिता 'दलपति-विजय' नामक एक भाट कहा जाता है। परन्तु इस ग्रंथ की जो प्रति प्राप्त हुई है उसमें महाराणा प्रताप तक का वृतांत मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि खुमान के बाद के चारण भी इसमें अपनी गाथाएँ जोड़ते चले गए और अंत में १७ वीं शताब्दी में यह ग्रंथ लिपिबद्ध हुआ। शिवसिंह सरोज में भी खुमान रासो के रचयिता का नाम एक 'अज्ञात नाम

भाट, लिखा हुआ है। यद्यपि यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका कि खुमान रासो का रचयिता कौन है। पर इतना अनुमान निश्चित रूप से किया जा सकता है कि इसकी रचना का आरम्भ नवीं और दसवीं सदी के बीच में हुआ होगा। इस समय से पहले की हिन्दी या पुरानी हिन्दी या राजस्थानी में लिखा हुआ कोई भी ग्रंथ आज तक उपलब्ध नहीं हुआ है। अतः हिन्दी के आदिकाल का आरम्भ हम दसवीं शताब्दी से ही मानते हैं।

साहित्य-काल-विभाजन

हिंदी-साहित्य के इस १००० वर्ष (९००—२०००) तक के जीवन को साहित्यिक इतिहास-लेखकों ने भिन्न-भिन्न रूप से विभक्त किया है, किसी ने विषय, किसी ने विचार-प्रवाह, और किसी ने समय के अनुसार इस दीर्घकाल को चार से लेकर नौ भागों में बाँटा है। आदिकाल अथवा वीरगाथा काल (जो १० वीं से १४ वीं सदी तक विस्तृत है) और वर्तमान काल (जो सन् १८५७ के बलवे के बाद शुरू होता है) के विषय में प्रायः सभी एक मत हैं। मतभेद इसी मध्यकाल के विभाजन में है। हम इस काल को विषय के अनुसार पाँच भागों में विभक्त करते हैं—

संत कवि—निर्गुण भक्ति, प्रधान कवि कबीर।

वैष्णव कवि—सगुण भक्ति तथा प्रेम-धारा, प्रधान कवि तुलसी तथा सूर।

प्रेम गाथा लिखने वाले कवि—प्रेम (Romance), प्रधान कवि जायसी।

शृङ्गारी कवि—विशुद्ध शृङ्गार, प्रधान कवि देव।

अलंकारी कवि—अलंकार और रीति, शृङ्गार के साथ साथ, प्रधान कवि केशव।

आदि काल

(सं० १०००—१४००)

यह तो हम ऊपर देख ही चुके हैं कि हिंदी-साहित्य का प्रथम उत्थान राजस्थान में वहां की पुरानी भाषाओं में हुआ था और वहां का सब से पहला ग्रन्थ 'खुमान रासो' माना जाता है; इसके उपरान्त कई एक रासो और मिलते हैं। इनमें से बहुत अभीतक प्रकाशित नहीं हो सके हैं और बहुतों का आज तक पता भी नहीं लगा है। इसमें से किसी-किसी की पदसंख्या ५० हज़ार छंदों से भी अधिक है। इस प्राचीन साहित्य का क्षेत्र—जिसे हम 'चारण काव्य' कह सकते हैं—बहुत विस्तृत है।

चारण कवियों की शिक्षा और योग्यता

पुराने समय के चारण, जो इस प्रकार के काव्य की रचना करते थे, बड़े विद्वान् होते थे। कारण यह था कि प्रायः सभी राजपूत उस समय युद्ध में व्यस्त रहते थे और उन्हें सैनिकों के प्रोत्साहन के लिये चारणों और वीर-रस-पूर्ण कविता सुनाने के लिए भाटों की बड़ी आवश्यकता होती थी। इस प्रकार राज-दर्बारों में सम्मान उन्हीं चारणों तथा भाटों का हो सकता था जो अपनी कला में बहुत प्रवीण होते थे। अतः इस जाति के लोग काव्यकला-कौशल की प्राप्ति के लिये शिक्षा और अभ्यास में बहुत समय बिताते थे, और संस्कृत

प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाओं के पूरे विद्वान् हुआ करते थे। कर्नल टाड* कहते हैं कि उस समय 'कवीश्वर' की पदवी उसी को दी जाती थी जो कम से कम छः भाषाओं के ज्ञाता होते थे तथा व्याकरण, छंद, निरुक्त आदि विषयों में प्रवीण होते थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इन कवियों के आश्रयदाता राजपूत लोग भी काव्य-मर्मज्ञ होते थे। वीसलदेव रासो का लेखक 'नल्ह' शायद एक 'नरपति' था। यद्यपि उस समय का अधिकांश साहित्य मुख्यतः युद्धप्रिय राजपूतों की अहम्मन्यता की तुष्टि के लिये ही निर्मित हुआ पर हम राजपूतों को प्रशंसा किए विना इसलिए नहीं रह सकते कि प्रतिदिन लड़ाई झगड़े के झंझटों में पड़े रहते हुए भी वे काव्य-चर्चा के लिये समय निकाल लेते थे और उच्च श्रेणी के काव्य रस का आनंद लेने की क्षमता रखते थे।

चारण काव्यों का विषयक्रम तथा उनका ऐतिहासिक और साहित्यिक मूल्य

इन काव्यों को देखते ही पता लग जाता है कि इतिहास की दृष्टि से ये बड़े महत्त्व के हैं। इनमें प्रायः वर्तमान कालिक क्रिया का ही प्रयोग होता है, इससे स्पष्ट है कि ये अपने सम-कालीन तथा आँखों देखी घटनाओं का ही वर्णन करते हैं। परन्तु यह लोग इतिहास तो लिखते नहीं थे, काव्य लिखते थे,

---

* *Annals of Marwar* का दसवां अध्याय देखिये।

और उनमें अतिशयोक्तियों का आधिक्य, आश्रयदाताओं के गौरव को बढ़ानेवाली घटनाओं का विस्तृत तथा आडंम्बर-पूर्ण वर्णन और अप्रिय सत्य को साफ़ उड़ा जाना आदि बातें कविता की दृष्टि से बहुत अंशों तक क्षम्य हो सकती हैं। इस समय की जो रचना गद्य में हुई है वह पूर्णतया ऐतिहासिक दृष्टि से ही हुई है और उसका विषय इतिहास की दृष्टि से बहुत अधिक प्रामाणिक समझा जाता है, पर साहित्य से उसका सम्बन्ध बहुत कम है। कविताओं के रूप में प्रायः प्रत्येक राज्य में कोई न कोई संग्रह है। मारवाड़ में इस पकार का एक बहुत प्रसिद्ध संग्रह 'सूरज प्रकाश' है और इसका रचयिता 'कर्णी दान' नामक एक चारण था जिसकी योग्यता की अत्यधिक प्रशंसा कर्नल टाड ने की है। यह काव्य राठोर महाराज अभयसिंह का गुणगान करने को लिखा गया था और कर्णी दान इन्हीं महाराज का समसामयिक था।

चारण काव्यों के मुख्य लक्षण

छोटे बड़े सभी वीर गाथाओं का ढंग प्रायः यही होता था जो इस ग्रन्थ का है। ग्रंथारम्भ करते समय सब से पहले मंगलाचरण और मुख्य मुख्य देवताओं की स्तुति में बहुत से छंद लिखे जाते हैं। इसके बाद ग्रंथ के नामकरण का कारण लिखा जाता है, और फिर राजवंशावली शुरू हो जाती है। यह वंशावली बहुत विस्तृत होती है और इसका आरंभ आदिपुरुष से होता है। 'सूरज प्रकाश' ग्रंथ की वंशावली में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा से लेकर

अभयसिंह के समय तक के राजाओं का वर्णन है। इस वर्णन में केवल नाम ही भर नहीं गिनाया गया है बहुत सा जीवन-वृत्तान्त भी दे दिया गया है। रामचंद्र के वर्णन के समय तो कवि ने एक छोटी मोटी रामायण ही लिख डाली है। इन ग्रंथों की एक तिहाई तो प्रायः वंशावली के ही वर्णन में लग जाती है। ज्यों-ज्यों वंशावली ग्रंथ के नायक के समीप आने लगती है त्यों-त्यों वर्णन विस्तृत होता जाता है। फिर आगे चलकर नायक के शोड़ष संस्कार विवाह तथा अभिषेक आदि वर्णन के समय तो वर्णन विशदता तथा अतिशयोक्ति की हद हो जाती है। राज्य का वैभव, नगर की शोभा, आदि के वर्णन का अवसर इस समय आता है। जगह जगह पर कवि किसी न किसी बहाने अपनी योग्यता तथा बहुज्ञता का परिचय देता चलता है। उदाहरणार्थ जैसे राज्याभिषेक के समय दरबार में गवैयों का वर्णन करना हुआ तो सैकड़ों प्रकार के राग-रागिनियों के लक्षण तथा बाजों के नाम गिनाने लगना इत्यादि। कभी-कभी जब कवि को अपनी किसी विशेष विषय की योग्यता का परिचय देना हुआ और कोई ठीक बहाना न मिला तो वहाँ पर कवि किसी से कल्पित प्रश्न कराकर अपना वक्तव्य कह जाता है। 'सूरज प्रकाश' में अभयसिंह कवि से छहों भाषाओं के विषय में प्रश्न करते दिखाई पड़ते हैं इसके उत्तर में दानी कर्ण कई पृष्ठों में संस्कृत, नागभाषा, अपभ्रंश, शौरसेनी, मागधी तथा प्राकृत के ऊपर एक ख़ासा

व्याख्यान सा दे जाता है। इसी से यह ज्ञात होता है कि उस समय चारणों के लिये इन भाषाओं का भली-भाँति जानना अनिवार्य समझा जाता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्रंथ का प्रायः आधा या कहीं-कहीं इससे भी अधिक भाग भूमिका में ही खप जाता है। इन्हीं बातों को देख कर टाड साहब पृथ्वीराज रासो के विषय में कहते हैं कि यह ग्रंथ कवि के समय का विश्व-इतिहास है। ("It is a universal history of the period in which he wrote.") ग्रंथ के नायक के प्रकृत जीवनचरित में युद्ध तथा विवाह-वर्णन का प्राधान्य रहता है। युद्ध के वर्णन बड़े ही सजीव होते हैं तथा कहीं कहीं मृगया के वर्णन भी बड़े रोचक मिलते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि इन वीर गाथाओं के कवि कोरे कवि ही नहीं होते थे वरन् युद्ध, आखेट, आदि सभी कामों में अपने-अपने चरितनायकों के साथ रहते थे और स्वयं भी इन कार्यों में योगदान देते थे। कहा जाता है पृथ्वीराज रासो का रचयिता कवि तो था ही, साथ ही पृथ्वीराज का सामंत और मंत्री भी था। उस समय राजाओं में 'स्वयंवर' प्रथा प्रचलित थी, और जिस राजा को कन्या वर-माल पहनाती थी उसके प्रायः सभी राजसभा के निमंत्रित राजागण शत्रु हो जाते थे और भीषण युद्ध होता था। ऐसे युद्धों का वर्णन भी चारण लोग बहुत अच्छा करते थे और ऐसे ही प्रसंगों में उनकी कविता में कहीं-कहीं शृङ्गार रस का भी निरूपण हो जाता

थी। परन्तु प्राधान्य प्रायः सभी गाथाओं में वीररस का ही रहता है।

चारण-काव्यों की भाषा

भाषा इन गाथाओं की उस समय राजपुताना तथा गुजरात आदि प्रांतों में बोली जानेवाली पुरानी राजस्थानी है। भाषातत्व (philology) के विद्यार्थी के लिए यह भाषा बड़े महत्व की है, क्योंकि आजकल की हिंदी तथा प्राकृत का सम्बन्ध इसी भाषा के द्वारा स्थापित होता है। लाला सीताराम जी इस भाषा के सम्बन्ध में कहते हैं। "It is however of the greatest value to the student of philology, for it is at present the only stepping-stone available to European explorers in the chasm between the latest Prakrit and the Eastern Gaudian authors." अर्थात् यह भाषा भाषातत्व के विद्यार्थी के लिये सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वर्तमान काल में पाश्चात्य जिज्ञासुओं और भाषा तत्त्वान्वेषकों के लिये सब से हाल की प्राकृत और पूर्वी गौड़ीय लेखकों की भाषा का सम्बन्ध स्थिर करने के लिये यही एकमात्र साधन है। यह भाषा, जिसे चारण लोग 'डिंगल' कहते थे, अपभ्रंश से बहुत मिलती जुलती है। जो लोग संस्कृत, प्राकृत तथा राजस्थानी भाषाओं को अच्छी प्रकार नहीं जानते उनके लिये इन गाथाओं का समझना कठिन ही नहीं वरन् असंभव सा है। कुछ पाश्चात्य

विद्वानों ने सबसे प्रसिद्ध वीरगाथा पृथ्वीराज रासो के बहुत अंशों के अनुवाद भी किये हैं । टाड साहब ने इस रासो के ३०,००० छंदों का अनुवाद किया तथा प्रसिद्ध भाषातत्त्वज्ञ वीम्स और हार्नल् साहब ने भी रासो की भाषा से अच्छी टक्कर ली है, परंतु बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिंदी के किसी भी विद्वान् ने अभी तक ऐसा प्रयत्न नहीं किया।* पंड्या जी और बाबू श्यामसुंदरदास ने रासो का संपादन किया है और बाबू साहब ने गद्य में इसकी संक्षिप्त कथा भी लिखी है, पर यह पाश्चात्य विद्वानों के प्रयास को देखते हुए अधिक नहीं है। हिन्दी की साहित्यिक संस्थाओं का कर्त्तव्य होना चाहिये कि आज तक जिन जिन वीरगाथाओं का पता चला है उन्हें यथासंभव सुचारु रूप से संपादित करावें और वर्तमान हिन्दी में उसका रूपांतर करावें । प्राचीन साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग बहुत दिनों से उपेक्षित पड़ा है और अब भी जब कि बहुत से लोगों का विचार है कि हिंदी की

---

*परंतु अभी हाल में पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि कुछ अग्रगण्य पुरातत्त्ववेत्ताओं की खोज से यह बात सिद्ध हो गई है कि हम रासो को जिस रूप में इस समय देखते हैं उसमें पृथ्वीराज के समय की या चंद नाम के किसी कवि की भाषा बहुत कम है। सारा ग्रंथ प्रक्षिप्त कविता से भरा पड़ा है। ओझा जी को तो चंद नामक के किसी कवि के उस समय होने में भी संदेह है । संभव है इन्हीं कारणों से विद्वान् लोग रासो की ओर से अमनस्क हो गए हों। पर जो हो, हर हालत में रासो पर किया हुआ श्रम व्यर्थ न जायगा।

बड़ी उन्नति हो रही है, इस ओर कोई ध्यान देता दिखाई नहीं देता।

इन गाथाओं में व्यवहृत होने वाले छंदों के विषय में केवल इतना ही कहना है कि उस समय संस्कृत के लोकप्रिय, छंद जैसे शार्दूल-विक्रीड़ित, भुजङ्गप्रयात, मन्दाक्रान्ता आदि का ही प्रयोग चारण लोग अधिक करते थे। भाषाछंदों में दोहा (दूहा), छप्पय और पद्धरी बहुत प्रचलित थे। कविता अधिकतर संस्कृत की भांति भिन्नतुकान्त रूप में ही होती थी और क्लिष्ट संयुक्त अक्षरों की अनावश्यक भरमार रहती थी। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वीररस के उद्रेक के लिये कोमलकांत पदावली रखना कवियों ने उचित न समझा हो।

चारण ग्रन्थों के छंद

प्रसिद्ध वीरगाथाओं तथा उनके रचयिताओं के नाम—

ग्रंथ	लेखक	रचना
१—खुमान रासो	दलपति विजय	९वीं शताब्दी वि
२—बीसल देव रासो	नरपति नल्ह	सं० १२१२ वि०
३—पृथ्वीराज रासो	चंद बरदाई	१२२५,१२४९,वि,०
४—आल्हा	जगनिक	१२३० वि०
५—हमीर रासो, हमीर काव्य	शार्ङ्गधर	१३५७ वि० से
६—विजयपाल रासो	नल्लसिंह भट्ट	१३५५ वि०

आदिकाल के मुख्य कवियों का संक्षिप्त परिचय

आदि-काल के जिन कवियों के ग्रंथ और उनके रचना-काल का पता लग सका है, उनमें से सबसे प्रथम नल्ह या नरपति नल्ह माने जायँगे।

नल्ह

इनके ग्रंथ 'बीसलदेव रासो' का रचनाकाल सं० १२१२ सिद्ध हो गया है। इन्होंने अपने ग्रंथ का रचनाकाल स्वयं इस दोहे में दिया है—

"बारह सै बहोत्तराहाँ मझारि, जेठ वदी नवमी बुधुवारि।
नल्ह रसायण आरंभइ, सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि॥

इसमें 'बारह सै बहोत्तराहाँ' का अर्थ इतिहास लेखक कई प्रकार से लगाते थे। पर इस ग्रन्थ के संपादक ने बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समय के शिलालेखों आदि के प्रबल प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि 'बारह सै बहोत्तराहाँ' का अर्थ सं० १२१२ ही लगाना ठीक है।

अब तक के प्रकाशित ग्रन्थों में इसी ग्रन्थ की भाषा को हम हिंदी का प्राचीनतम उदाहरण कह सकते हैं। यह ग्रन्थ बहुत दिनों तक मौखिक रहने के बाद लिपिबद्ध हुआ और इस कारण प्रकाशित संस्करण की भाषा को पूर्णरूप से तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभकाल की भाषा मानना ठीक नहीं होगा, पर तो भी अन्य सभी उपलब्ध ग्रन्थों में से इसकी भाषा में प्राचीनता के लक्षण सबसे अधिक मिलते हैं।

कवि जयानक था जिसका लिखा हुआ 'पृथ्वीराजविजय' नाम का एक प्रामाणिक संस्कृत काव्य-ग्रंथ मिलता है। इसमें दी हुई घटनाएँ और तिथियाँ प्रामाणिक इतिहासों और शिलालेखों से मिलान करने पर ठीक सिद्ध हुई हैं। पर इस ग्रंथ में चंद की कहीं चर्चा भी नहीं है। फिर रासो में दी हुई प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनाएँ और उनके समय अशुद्ध हैं। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या नाम के एक विद्वान् ने 'अनंद' विक्रम संवत् की कल्पना करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि रासो में आए हुए संवत् विक्रम संवत् नहीं वलिक कोई 'अनंद' सम्वत् है जो कि विक्रम संवत् से ९० वर्ष पीछे का है; अर्थात् उनमें ९० जोड़ने से विक्रम संवत् के वरावर हो जाते हैं। परन्तु पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने प्रवल प्रमाणों और उदाहरणों से यह सिद्ध कर दिया है कि 'अनंद' या 'भटायत' आदि नामों के कोई संवत् कभी प्रचलित नहीं थे और रासो के संवत् सव हैं। विक्रम के ही संवत् पर चूँकि वे सव अटकलपच्चू और शताब्दियों के वाद लगाए गए हैं इसलिए वे सभी अशुद्ध हो पड़े हैं। संवतों के अतिरिक्त रासो में दी हुई घटनाएँ भी प्रायः अशुद्ध और वे सिर-पैर की सिद्ध हुई हैं। चंद की दी हुई पृथ्वीराज की वंशावली भी विलकुल अप्रामाणिक सिद्ध हुई है। 'पृथ्वीराजविजय' की दी हुई वंशावली विजोलिया के शिलालेख में दी हुई वंशावली से मिलती है। इन्हीं कारणों से यह निष्कर्ष निकलता है

समावेश और युद्धस्थल की घटनाओं का वड़ा सजीव और आवेशपूर्ण वर्णन है।

उल्लिखित कवियों के ग्रंथों में से केवल दो या तीन का ही अब तक संपादन हो सका है। नागरी-प्रचारिणी-सभा ने वड़े परिश्रम से पृथ्वीराज रासो का संपादन बा० श्यामसुन्दर दास तथा श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या द्वारा कराया है। इसी संस्था से बाबू सत्यजीवन वर्म्मा ने वीसलदेव रासो का संपादन किया है। आल्हाखंड नाम का जो ग्रंथ इस समय मिलता है उसमें जैसा कि अवतक हो गया है जगनिक की रचना शायद विलकुल नहीं है और यदि कुछ हो भी सकती है तो वह इतनी विकृत और रूपांतरित हो गई है कि उसे देख कर उसे १३ वीं या १४ वीं शताब्दी की रचना नहीं बल्कि आधुनिक कनौजी या वैसवारी वालो की कविता कहनी पड़ेगी। वास्तव में वर्त्तमान आल्हा आजकल की वैसवारा और कनौजी वोलियों में ही लिखा हुआ जान पड़ता है। वात यह है कि देहातों में आल्हा गाने की प्रथा बहुत दिन से है और गानेवाले विशेषतः इसे कंठस्थ ही रखते हैं। आल्हा कई शताब्दियों तक कंठस्थ ही रखा गया और समय समय पर भाषा के परिवर्तन के साथ ही साथ इसमें गानेवाले मनमाना परिवर्तन करते गये। उच्चारण आदि की सुविधा के विचार से भी असंख्य परिवर्तन हुए होंगे। यही नहीं वस्तु में भी यथेष्ट परिवर्तन हो गया है। सबसे पहला संग्रह इसका ६० या ७०

पुरुष की गाथा हुई तब तो उसे सभी भाट और चारण कंठस्थ करते थे और लोगों को गा-गाकर सुनाते थे और इसी प्रकार अपनी जीविका भी चलाते थे। पर यदि किसी साधारण या अपेक्षा-कृत कम लोकप्रिय आश्रयदाता के लिए किसी चारण ने रचना की तो उसको कंठस्थ करने या संग्रह करने की किसी को चिंता नहीं होती थी, चाहे अच्छे से अच्छे कवि की सुंदर से सुंदर रचना ही क्यों न रही हो। इसी प्रकार न जाने कितने उत्तमोत्तम चारण-काव्य लुप्त हो गए होंगे। उस समय न प्रेस था न मशीन, जिसके ग्रंथ की रक्षा करनी होती उसे लोग कंठस्थ कर लेते थे और कहीं कहीं प्रतिलिपि भी कर डालते थे। पर इस प्रकार कितने ग्रन्थों की रक्षा हो सकती थी।

कविता में भक्तिभाव की उत्पत्ति

यह भक्तिस्रोत पहले-पहल दक्षिण प्रांत से चल कर धीरे-धीरे उत्तर-भारत की ओर अग्रसर हो रहा था। राजनैतिक उलट फेर के कारण जनता अकर्मण्य सी हो रही थी। यह हिंदुस्तानी मस्तिष्क की विशेषता है कि अकर्मण्यता के समय उसे नवीन लौकिक कार्यक्षेत्र की ओर झुकने की अपेक्षा पारलौकिक विषयों में लीन होने की प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती है। ऐसे अवसर पर यह भक्ति-प्रवाह हिंदुओं के लिए डूबते को तिनके के सहारे की भाँति हुआ।

रामानुज

सबसे पहिले रामानुजाचार्य (सं० १०७३) ने सनातनी रीति से भक्ति का निरूपण किया था और उसी समय से जनता का ध्यान धीरे-धीरे भक्ति की ओर आकर्षित हो रहा था।

रामानंद

इन्हीं रामानुज की शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द (सं० १४५७—१५२७) हुए जो सगुण भक्ति के सबसे बड़े आचार्य हुए। इन्होंने विष्णु के अवतार राम की भक्ति पर बड़ा ज़ोर दिया। इनके अनुयायी भी बहुत हो गए जिससे क्रमशः इनका एक बड़ा भारी सम्प्रदाय बन चला और दिन प्रतिदिन इनके शिष्यों की भी संख्या बढ़ने लगी, यहाँ तक कि इनके शिष्यों में भी ऐसे-ऐसे महात्मा निकले जिन्होंने अपने भिन्न-भिन्न संप्रदाय खड़े किये।

इन्हीं कारणों से रामानन्द उत्तर हिन्दुस्तान के सब से बड़े धर्माचार्य (religious reformer) माने जाते हैं। इन्हीं के उपदेश का तथा इनके चलाए हुए भक्तिमार्ग से हिंदी-साहित्य का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। राम के विषय में अवधी में जो इतने अधिक और उच्चकोटि के साहित्य की सृष्टि हुई उसका मूल कारण रामानंद का चलाया हुआ भक्तिवाद ही कहा जा सकता है। इनका बतलाया हुआ भक्तिमार्ग ऐसा हृदयग्राही और साथ ही प्रेमपूर्ण था कि इसके विषय में कवियों को बहुत कुछ कहने का अवसर मिला। इसका कारण यह था कि स्वामी रामानंद के राम दशरथ के पुत्र रामचन्द्र थे जिन्होंने मानवशरीर से ही कितने ही देवदुर्लभ कार्य किये थे। उनका जीवनचरित्र सर्वथा निर्दोष तथा आदर्श माना गया है। इनकी कथा सब से पहले महर्षि वाल्मीकि ने ईसा से प्रायः ३०० वर्ष पहले ही लिखी थी। पर इस ग्रन्थ में राम विष्णु के अवतार नहीं माने गए थे। वे अलौकिक शक्तियों से पूर्ण एक आदर्श महापुरुष भर हैं, ईश्वर या ईश्वर तुल्य नहीं। अवतारवादी सबसे पहले यही रामानंद तथा उन्हीं के समसामयिक वल्लभाचार्य तथा माध्वाचार्य नाम के दो और आचार्य हुए। वल्लभाचार्य ने कृष्ण को विष्णु का

रामानंद और
अवतारवाद

रामानन्दी-भक्ति क्यों इतनी लोकप्रिय हुई ?

अवतार मानकर उनकी भक्ति का उपदेश किया और इनका संप्रदाय स्वामी रामानंद के संप्रदाय से भी अधिक व्यापक हुआ। इन दोनों आचार्यों की शिक्षा के बहुत से सिद्धान्त एक से हैं। मुख्य बात इनके मत में मूर्तिपूजा है। स्वामी शंकराचार्य का अद्वैतवाद शुष्क था। उनका मंतव्य सर्वसाधारण के समझ में नहीं आता था और न इसकी किसी को आवश्यकता ही थी। दूसरे उनके मत का प्रचार संस्कृत में ही होता था और भक्ति का कोई आधार न होने के कारण साधारण मस्तिष्कवाले इनके दार्शनिक विचारों को अपने लिये व्यर्थ समझने लगे थे। ऐसे ही समय में साकार-भक्ति की सृष्टि हुई। राम और कृष्ण की प्रतिमाएं बनाकर मंदिरों में स्थापित की गई, जहां संगीत की मधुर ध्वनि के साथ उनकी पूजा होती थी। उसी मूर्ति को ईश्वर समझ कर लोग श्रद्धा, भक्ति तथा सब से मुख्य वस्तु 'प्रेम' का आधार समझते थे। कोई गाना गाकर उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करता था, कोई बाजा बजाकर अथवा नृत्य से उसे रिझाता था, कोई कविता सुनाता था तो कोई कीर्तन करता था। इन बातों से ईश्वर तो प्रसन्न होता था या नहीं इसको तो वही जाने, पर मंदिरों में सुनने वाले भक्त नरनारियों का जो जमघट लगा रहता, उसका मनो-रंजन अवश्य होता था। इस प्रकार के कीर्तन, भजन, गायन

इत्यादि के लिए, जो भाषा में होते थे; बहुत परिमाण में उच्च-कोटि के भक्ति और प्रेमरस से पूर्ण-साहित्य की आवश्यकता थी, अतः भक्त-कवि बड़ो तत्परता से साहित्य सेवा तथा साथ ही ईश्वरसेवा में संलग्न हुए। राम और कृष्ण को ईश्वर का अवतार मान कर केवल इन्हीं के गुणगान में ही कविगण अपनी सारी शक्ति तथा सारा समय लगाने लगे, यहाँ तक कि महाकवि तुलसीदास ने स्पष्ट ही लिख दिया—

कीन्हें प्राकृतजन गुण गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

अन्त में नौवत यहां तक आई कि लौकिक विषय (Temporal sudjects) पर लिखना सरस्वती का अपमान करना हो गया। पर इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि इस विचार-धारा के कवियों ने केवल भक्ति-रस की ही कविता की। जो लोग प्रवन्धकाव्य लिखते थे वे नायक के मनोवेगों के अनुसार उचित अवसरों पर आवश्यकतानुसार सभी रसों की कविता करते थे। उदाहरण के लिए तुलसीकृत रामायण ही लीजिए, इसमें यथावसर कविता के सभी रसों का उचित समावेश किया गया है, पर प्रधान भक्ति है, और तुलसीदास जी में सबसे बड़ी बात यही है कि उन्हें सभी रसों के निरूपण में आश्चर्य-जनक सफलता मिली है, पर कृष्ण-काव्य के कवियों का झुकाव शृङ्गार की ओर अधिक है। यद्यपि यह शृङ्गार भक्ति के आवरण से ढका हुआ है तथापि गोपीकृष्ण और राधाकृष्ण के

परस्पर अनुराग वर्णन के छल से ये कवि सभी कुछ कह जाते हैं।

निर्गुणभक्ति की उत्पत्ति

इस प्रकार एक ओर तो प्राचीन शास्त्रोक्त-रीति से राम और कृष्ण की सगुण भक्ति के रूप में यह काव्य-क्षेत्र बन रहा था, साथ ही दूसरी ओर देश में मुसलमानों के बस जाने से जो मत-मतांतर संबन्धी विकट समस्याएँ उपस्थित हुईं उनको हल करने की दृष्टि से हिन्दू और मुसलान दोनों के लिये एक 'सामान्य-भक्तिमार्ग' की भी सृष्टि हुई, और इस भक्तिमार्ग का आदर्श भी बहुत ऊँचा रक्खा गया था। इसके अनुसार 'राम' और 'रहीम' में कोई भेद नहीं था। मंदिर और मसजिद दोनों ही का अस्तित्व समान रूप से व्यर्थ और झगड़े की जड़ बताया गया। मूर्तिपूजा, अवतारपूजा आदि सगुण उपासना की सभी बातें केवल आडंबर और अर्थ-शून्य समझी गईं। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "यह सामान्य भक्ति-मार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित रूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगंबरी खुदा-वाद की ओर।" यह मार्ग आगे चल कर 'निर्गुण पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें नई बात यह थी कि इसके अनुयायियों में जातिपाँति का विचार नहीं था। यहां का सिद्धांत था "जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" पहले के आचार्य नीचों को अपनी शिष्य-मंडली में नहीं सम्मिलित करते

थे और न उनके साथ खाते-पोते थे। इस निर्गुण पंथ में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के बराबर था। जन्मना किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं समझा जाता था।

संतकवियों की कविता

इस मार्ग के भक्तों ने भी बहुत कुछ कविता लिखी और मध्य-कालीन साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग इसो पंथ वालों का निर्माण किया हुआ है, पर साहित्यिक दृष्टि से इनकी कविताएँ उतनी अच्छी नहीं होती थीं। इसका मुख्य कारण यह था कि ये लोग विशेष पढ़े-लिखे नहीं होते थे और न काव्य-निर्माण की ओर इनका लक्ष्य हो रहता था। ये संत लोग मनमौजी होते थे जो तरंग में आकर कभी कभी भक्तों को उपदेश के रूप में कुछ कह डालते थे। ये लोग विशुद्ध ईश्वर प्रेम में इतने डूबे हुए रहते थे कि काव्य-रचना की ओर ध्यान देने का इन्हें अवसर ही नहीं था। हाँ, कहीं कहीं प्रतिभा का चमत्कार अवश्य देखने में आ जाता है। भाषा भो इन लोगों की बड़ी अनिश्चित है। विशेषतः अवधी को हा ये लोग काम में लाते थे, पर कहीं-कहीं कुछ खड़ी बोली का भी आभास मिल जाता है। परन्तु व्रजभाषा का उपयोग शायद किसी संत कवि ने नहीं किया। इस 'स्कूल' की कविता कई कारणों से लोकप्रिय भो न हो सकी। मुख्य कारण यह था कि इन महात्माओं की वाणियां बहुधा अप्रिय सत्य के रूप में होती थीं। कभी कभी ये लोग व्यंगोक्तियों द्वारा हिन्दू और मुसलमान दोनों ही की

दुर्वलताओं तथा व्यर्थाडंवरों की वड़ी कटु आलोचना कर डालते थे संत-काव्य का एक वहुत वड़ा भाग मानवसमाज के चरित्र के परिहास (satire) रूप में है। इस पंथ के कवि खरी कहने में अद्वितीय थे और लोगों में इनकी कविता का आदर होगा या निरादर इसकी इन्हें परवाह न थी। मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए उन्हें यथार्थ ज्ञान का उपदेश देना वे अपना कर्तव्य समझते थे चाहे वह उन्हें भले ही असह्य हो।

ख़ुसरो

वीरगाथा काल के अंत और मध्यकाल के आरंभ के समय अर्थात् १४वीं शताब्दी में अमीर ख़ुसरो नाम के एक महाकवि हो गए हैं। यह किसी भी विशेष संप्रदाय के अंदर नहीं आते। इनका स्थान सवसे निराला है और खड़ी वोली के आदि-कवि यही हैं। हो सकता है कि इनके पहले भी खड़ी वोली में कविता होती रही हो, और इनकी कविता की मुहावरेदार और वहुत कुछ परिमार्जित भाषा देखकर हठात् यही धारणा होती है कि इनके पहले से ही खड़ी वोली की कविता होती रही होगी, पर इनसे पहले के किसी कवि की खड़ी वोली की कविता मिलती नहीं। इनका जन्म तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ काल में हुआ था। ठीक तिथि ज्ञात नहीं हो सकी है। इतना पता चलता है कि राजदर्वार में सवसे पहले उनका प्रवेश सुलतान ग़यासुद्दीन वलवन के जमाने में हुआ था। ये वहुत दिन तक जीवित भी रहे, इनकी मृत्यु के समय ख़िलजी वंश का अंत हो चुका था

और तुग़लक वंश राज्य करने लगा था। ये बड़े भारी विद्वान्, अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, और हिन्दी भाषाओं के मर्मज्ञ और एक महाकवि होने के अतिरिक्त बड़े भारी इतिहासकार भी थे। फ़ारसी आदि के अतिरिक्त इनकी हिंदी की भी बहुत सी फुटकर कविता मिलती है। इनके बहुत से ग्रंथ लुप्त हो गए हैं, अब केवल २२ मिलते हैं, पर हिंदी में केवल इनके फुटकर पद्य पहेलियों, मुकरियों, और दोहों आदि में मिलते हैं। इन्होंने अरबी, फारसी, और हिंदी का छंदोबद्ध एक वृहत् कोष भी तैयार किया था पर यह पूरा नहीं मिलता। इसका कुछ अंश 'खालिक बारी' नाम से प्रसिद्ध है।

उदाहरण—

ख़ालिक बारी सिरजन हार, वाहिद एक विदा कर्तार।
मुश्क काफ़ूर अस्त कस्तूरी कपूर, हिंदवी आनंद शादी औ सरूर।

इनकी दो एक पहेलियों और मुकरियों के भी उदाहरण देखिए—

एक नार तरवर से उतरी मा से जनम न पायो॥
बाप को नाव जो तासैं पूछ्यो आधो नाम बतायो॥
आधो नांव बतायो खुसरू कौन देस की बोली।
वाको नांव जो पूछ्यो मैंने, अपने नांव न बोली॥

(निबौली)

नित मेरे घर आवत है, रात गए फिर जावत है।
फँसत अमावस गोरि के फ़ंदा, ऐ सखि साजन ना सखि चंदा॥

न्हाय धोय सेज मेरी आयो, ले चूमा मुंह मुहहिं लगायो।
इतनी बात पै चुक्कम चुक्का, ऐ सखि साजन न सखि हुक्का॥

.खुसरो के पद्य बहुत दिन तक परंपरागत रूप से मौखिक रहे हैं और इससे एक अंश तक इनके पद्य बदल भी गए होंगे पर जो मिलते हैं उसमें माधुर्य, लालित्य और प्रसाद गुण प्रधान हैं।

हिन्दी-कविता के सम्बन्ध में .खुसरो का महत्त्व इसलिए है कि यह खड़ी बोली के पहले कवि थे। पर आश्चर्य यह है कि इनके बाद से लेकर हरिश्चंद्र तक और किसी की खड़ी बोली की कविता नहीं मिलती, केवल कबीर के किसी-किसी पद में कहीं-कहीं खड़ी बोली की झलक आ जाती है। .खुसरो की भाषा में ब्रजभाषा का पुट भी पर्याप्त है जैसा कि ऊपर दिए हुए उदाहरणों से ज्ञात होगा पर किसी-किसी पद्य में ब्रजभाषा का कोई भी चिह्न नहीं मिलता जैसे—

एक थाल मोती से भरा, सबके सिरपर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाल फिरै, मोती उससे एक गिरै॥

इतने पहले इस प्रकार की भाषा देखकर कुछ आश्चर्य सा होता है, पर अधिक आश्चर्य इस बात से होता है कि उस समय के आस-पास और किसी की इस ढंग की कविता नहीं मिलती। जो हो इससे इतना तो स्पष्ट है खड़ी बोली कोई आधुनिक या बनावटी भाषा या उर्दू से निकली हुई कोई नई उपभाषा नहीं है। जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, बल्कि

इसका साहित्यिक अस्तित्त्व अवधी और व्रजभाषा से भी पुराना है। खुसरो के पहले किसी कवि की कविता व्रज या अवधी बोली में नहीं मिलती। इन्हीं कारणों से कोई-कोई समालोचक और साहित्य के इतिहास लेखक खुसरो को ही हिंदी का आदि कवि मानते हैं, और यदि एकमात्र खड़ी बोली को ही हिंदी माने तो यह कथन सत्य भी हो सकता है। पर यह तय है कि हिन्दी से पुरानी हिन्दी जो कि अपभ्रंश से मिलती है, अवधी, व्रजभाषा तथा कन्नौजी आदि को अलग करना शरीर से हाथ पैर आदि काटकर अलग कर देने के समान होगा।

सन्त-कवि

कबीर १४५६—१५७५ सं०

जहां तक पता चला है इस निर्गुण पंथ के प्रवर्त्तक महात्मा कबीर जी ही थे। इनके पहले सदना कसाई और नामदेव ने भी निर्गुण मार्ग की ओर संकेत किया था। नामदेव यद्यपि सगुणोपासक और मूर्तिपूजक थे पर कहीं-कहीं मुसलमानों को 'राम रहीम' की एकता समझाने के लिये ब्रह्मज्ञान का भी उपदेश दिया है। इसी कारण से निर्गुणवादी परम्परा के आदि में इनका नाम लेते हैं।

कबीर सं० १४५६-१५७५

नामदेव की रचना दोरंगी है, कहीं-कहीं ये 'गणिका' 'गीध' 'अजामिल' आदि का उद्धार करनेवाले अवतारों का गुणगान करते हैं तो कहीं मौज में आकर ज्ञानोपदेश भी करने लग जाते हैं। इसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सबसे पहले इस निर्गुण पंथ का मार्ग दिखानेवाले वास्तव में सगुणोपासक भक्त थे जो समय-समय पर धार्मिक एकता के उद्देश्य से निर्गुणवादी भी बन जाते थे।

महात्मा कबीर अवश्य मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद इत्यादि के कट्टर विरोधी हुए तथा वेद पुराण-विहित उपासना को भी इन्होंने असार बताया और साथ ही इसके मुसलमानों की

क़ुर्बानी, नमाज़, रोज़ा आदि को भी इन्होंने वैसा ही तुच्छ बताया। इनके उपदेशों में जीवन की सादगी पर बहुत अधिक ज़ोर डाला गया है। क़रीब पचास के ग्रंथ ऐसे मिलते हैं जिनके रचयिता कबीर माने जाते हैं। इनमें से बहुत से ऐसे हैं जो यथार्थ में इनके शिष्यों के लिखे हुए हैं और इनके नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है जिसके तीन भाग किए गए हैं—रमैनी, सबद, और साखी। इनमें कोई सुसंबद्ध कविता नहीं है, सब फुटकर पद हैं। विषय सर्वत्र वही ज्ञान और प्रेमतत्व का उपदेश है। कहीं कहीं इनकी बानियों में रहस्यवाद की झलक आती है जो कि सूफ़ियों के प्रभाव का फल है। कबीर के कुछ मुसलमान शिष्यों का विश्वास है कि कबीर ने प्रसिद्ध सूफ़ी फ़क़ीर अली तकी से दीक्षा ली थी, और इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि ये रामानंद जी के प्रधान शिष्यों में से थे। इन्होंने दोनों ही गुरुओं के उपदेश से सार भाग चुन कर अपना एक नया ही मत चलाया जिसमें एक ओर तो हिन्दू आचार्यों का ज्ञानोपदेश तथा दूसरी ओर सूफ़ियों के प्रेमतत्व-दोनों का अपूर्व संयोग है। इनकी सभी रचनाओं में यही प्रसंग भरे पड़े है। इनकी बातें बड़ी चुटीली और व्यंग चमत्कार-पूर्ण और बहुधा गर्वोक्ति-पूर्ण भी होती थीं। इसी से लोगों में इनकी बानियों का विशेष आदर नहीं है। ये पढ़े-लिखे तो शायद कुछ भी नहीं थे, पर विलक्षण प्रतिभासम्पन्न अवश्य थे। इनकी उक्तियों का

संग्रह इनके शिष्यों द्वारा हुआ है और सो भी वहुत परिवर्त्तन के साथ।

भाषा इनकी वही वावा लोगों की अक्खड़ी वोली है जिसमें समय समय पर खड़ी वोली, अवधी, पूरवी (विहारी) सभी की छटा देखने में आती है। कवीर स्वयं अपनी भाषा को वनारस के आसपास वोली जाने वाली अवधी वोली कहते हैं, पर इनकी भाषा में पंजावीपन वहुत है। यह रहे भी अधिक तर वनारस में ही पर यहां रहते हुए इनकी भाषा में इतना पंजावीपन न जाने कहां से आ गया। शायद यह पंजावी साधुओं के सत्संग का प्रभाव था, या इनके पदों को लिपिवद्ध करने वाले इनके पंजावी चेले रहे होंगे। क्योंकि यह तो सभी जानते हैं कि कवीर स्वयं अपने पद लिपिवद्ध नहीं करते थे। और कर भी नहीं सकते थे। ध्यान देने की एक वात यह भी है कि इनकी कविता के साथ इनके चेलों की वहुत सी कविता इन्हीं के नाम से मिला दी गई है और कुछ लोगों का कहना यह भी है कि इनके शिष्यों में पंजावियों की संख्या अधिक थी। इनकी भाषा में व्रजभाषा का पुट नहीं के वरावर है। तात्पर्य यह है कि भाषा परिमार्जित अथवा साहित्यिक तो कही नहीं जा सकती पर उसमें विचार-गांभीर्य और प्रतिभा का परिचय वहुत मिलता है। रहस्यवाद (mysticism) के आदि जन्मदाता यही कहे जा सकते हैं। इसी कारण कवीन्द्र रवीन्द्र को इनके वहुत से पद वड़े अच्छे लगे।

करते थे और भाषा इनकी व्रजभाषा थी। लोकधर्म के विरोधी भी ये नहीं थे। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'सुन्दर विलास'

अक्षर अनन्य (सं० १७१२ में वर्तमान थे)
पलटू
भीखा
मलूक दास
रैदास
दूलमदास
तुलसी साहब
सहजोबाई

लालदास	—	लालदासी पंथ के	
चरनदास	—	चरनदासी ”	
प्राननाथ	—	प्राननाथी ”	
शिवनारायण	—	शिवनरायनी ”	
गरीबदास	--	गरीबदासी ”	”
रामचरन	—	रामसनेही ”	”

जगजीवन साहब--(१८१८ के लगभग) इन्होंने भी 'सतनामी' नाम का एक नया पंथ चलाया था।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से सन्त कवि हो गए हैं। इन लोगों ने सुसम्बद्ध ग्रंथ कभी नहीं लिखे। इनकी फुटकर बानियों का एक अच्छा संग्रह "संन्तवानी संग्रह" के नाम

कबीर की साखी

'चेतावनी'

कबीर गर्व न कीजिए काल गहे कर केस ।
ना जानौ कित मारिहै क्या घर क्या परदेस ॥
आज काल के बीच में जंगल ह्वैगा वास ।
ऊपर ऊपर हल फिरै ढोर चरैंगे घास ॥
हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी केस जरै ज्यौं घास ।
सब जग जरिता देखि करि भए कबीर उदास ॥

नानक

लिखु राम नाम गुरुमुखि गोपाला,
सस्ते सब जग सहज उपाया तीन भुवन इक जोती ।
गुरुमुखि वस्तु परापत होवे चुन ले मानिक मोती ॥
समझै सूझै पढ़ि पढ़ि बूझै अंत निरंतर सांचा ।
गुर मुखि देखै साँचु सँभाले बिनु साँचे जग काँचा ॥

दादू

तुम बिन ऐसें कौन करै ।
गरीब नेवाज गुसाईं मेरो, माथे मुकुट धरै ॥
नीच ऊँच ले करे गुसाईं, टारचो हूँ न टरै ।
हस्त कँवल की छाया राखे, काहू सैं न डरै ॥
जाकी छोति जगत को लागै, तापरि तू ही ढरै ।
अमर आप लै करै गुसाईं, मारचो हूँ न मरै ॥

नामदेव कबीर जुलाहो, जन रैदास तिरै।
दादू वेगि बार नहिं लागै, हरिसों सबै सरै॥

सुंदरदास

प्रश्न

कैसे के जगत यह रच्यो है जगत गुरु,
मौसों कहो प्रथमहि कौन तत्त्व कीनों है।
प्रकृति कि पुरुष कि महतत्त्व अहंकार,
किधौं उपजाये सत रज तम तीनों हैं।
किधौं व्योम वायु तेज आप कै अवनि कीन,
किधौं पंच विषय पसार कर लीनो है।
किधौं दस इन्द्री किधौं अंतःकरन कीन,
सुंदर कहत किधौं सकल विहीनो है॥

उत्तर

ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति ते महतत्त्व पुनि अहंकार है।
अहंकार हू ते तीन गुन सत्त्व रज तम,
तम हूँ तैं महाभूत विषय पसार है।
रज हूँ ते इन्द्री दस पृथक पृथक भई,
सत्व हूँ ते मन आदि देवता विचार है।
ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सौं कहत गुरु,
सुंदर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है॥

———

वैष्णव कवि

(क) राम शाखा--राम और कृष्ण की भक्ति की सृष्टि किस प्रकार रामानंद तथा वल्लभाचार्य के द्वारा हुई यह हम ऊपर कह चुके हैं। अब रामभक्ति और कृष्णभक्ति दोनों शाखाओं के मुख्य कवियों के संक्षिप्त परिचय देते हैं।

तुलसीदास
१५५४-१६८०

राम शाखा में हिन्दी कविता के सूर्य गोस्वामी तुलसी दास को छोड़ कर कोई भी प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ, पर अकेले तुलसीदास ने ही राम-भक्ति के ऊपर जो कुछ कहा जा सकता था सब कह डाला। इनके बाद किसी को फिर इस विषय पर कुछ लिखना व्यर्थ मालूम हुआ होगा क्योंकि गोसांईजी इस विषय पर अंतिम शब्द कह गए थे।

इनके छोटे-बड़े १२ ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनमें रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली तथा गीतावली मुख्य हैं। यही एक ऐसे कवि थे जिनका अवधी तथा व्रजभाषा दोनों पर समान अधिकार था। सब प्रकार के प्रचलित छंद जैसे छप्पय, सवैया, कवित्त, घनाक्षरी तथा दोहा, चौपाई आदि इनके वश में थे।

तुलसीदासजी की जीवनी का सारांश

महात्मा तुलसीदासजी रामानन्द की शिष्य परंपरा में थे। उनके जीवन चरित्र की मुख्य बातें हमें महात्मा रघुवरदास के 'तुलसी-चरित' और उनके समकालीन शिष्य वावा वेनीमाधवदास के 'गोसाईं चरित' नामक ग्रंथों से ज्ञात होती हैं। इन दोनों में 'गोसाईं चरित' समकालीन लेखक की रचना होने के कारण अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इनके अतिरिक्त शिवसिंह सेंगर तथा डाक्टर ग्रियर्सन आदि के अनुसंधानों से भी कुछ जानकारी होती है। पर इन सभों से अधिक तुलसीदास की जीवन-संवंधी घटनाएँ जन-श्रुति के प्रमाण पर ही स्थित हैं। कुछ वातें संकेतरूप से उनके ग्रंथों से ही मालूम हो जाती हैं। अधिकतर 'मानस' और 'पत्रिका' में कहीं-कहीं ऐसी पंक्तियाँ आजाती हैं जिनसे उनके जीवन की कई मुख्य घटनाओं पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार के आभ्यंतरिक प्रमाणों के वल पर ही तत्वान्वेषी लोग प्रायः कहा करते हैं कि तुलसीदासजी जाति के भिखमंगे ('रंक') थे और उनका विवाह नहीं हुआ था*। पर सब प्रकार के प्रमाणों को मिलाकर अव तक उनके जीवन के संवंध की जो वातें स्थिर हो सकी हैं उनका साराँश यह है—

तुलसीदासजी का जन्म संवत् १५५४ में वाँदा ज़िले के राजापुर नामक गाँव में एक सरयूपारीण ब्राह्मण के वंश

* 'व्याह न वरेखी जाति पांति न चहत हौं।'

('पत्यौंजा' के दुबे) में हुआ था। इनके पिता का नाम आत्मा-राम तथा माता का नाम हुलसी था जिसका उल्लेख प्रसिद्ध कवि रहीम ने भी किया है। ये वाल्यावस्था से ही आश्रयहीन हो गये थे और इसी अवस्था में इनका सत्संग वावा नरहरिजी से हो गया जिन्हें उन्होंने अपना गुरु माना और उनसे राम भक्ति की दीक्षा ली। इन्होंने शेष सनातन नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् और महात्मा से विद्याध्ययन किया था। लगभग १५ वर्ष तक गुरु से शिक्षा ग्रहण कर युवावस्था में ये घर आए और उसी समय इन्होंने विवाह किया और कुछ दिन तक, शायद पाँच वर्ष तक गार्हस्थ्य-सुख का अनुभव किया। इनका स्त्री-प्रेम प्रसिद्ध है। पर किसी कारण से स्त्री से ये ऐसे विरक्त हो गए कि फिर आजीवन उनसे दूर ही रहे। विरक्त होकर ये देशाटन को निकल गए और सन्यासी वेश में लगभग पचीस वर्ष तक भिन्न-भिन्न देशों में घूमते फिरे। काशी, अयोध्या, चित्रकूट, और प्रयाग में इनके ख़ास अड्डे थे। इधर उधर घूम-घाम कर कुछ दिन के लिये किसी तीर्थ स्थान में ठहर जाते थे और कोई ग्रंथ पूरा कर डालते थे। कहा जाता है उन्होंने अपनी कृष्णगीतावली वृन्दावन में ही लिखी थी। यह भी प्रसिद्ध है कि सं० १६१६ के लगभग महात्मा सूरदास इनसे मिलने काशी आए थे और अपना मुख्य ग्रंथ सूरसागर इन्हें दिखलाया था। महाकवि केशव और रहीम से भी इनके साक्षात्कार होने की वात प्रसिद्ध है। सव जगह घूम-घाम

कर अंत में ये काशी में ही रह गए और वहीं अपने मुख्य ग्रंथ "रामचरित मानस" और विनय पत्रिका की रचना की। मानस की रचना का आरंभ इन्होंने सं० १६३१ में किया था। इसके बाद इनका ध्यान परलोक की ओर आकृष्ट हुआ और सब छोड़ कर बड़े ही दैन्य भाव से भगवद्भक्ति में लीन हुए। इनका अंतिम ग्रंथ विनय-पत्रिका है। इसमें भक्ति और वैराग्य अपने चरम सीमा को पहुँचे हुए जान पड़ते हैं। काशी में ही सं० १६८० में इनकी मृत्यु हुई और कहा जाता है कि इनके अंतिम दिन बड़े कष्ट से बीते थे।

"मानस"

इनका रामचरितमानस, जो कि संसार भर में शायद सब से अधिक प्रचलित पुस्तक है, एक प्रबंध-काव्य है। इसमें भक्ति को आधार रखते हुए कवि ने मनुष्य की सभी दशाओं पर प्रकाश डाला है और हर एक अवस्था में मनुष्य को क्या करना चाहिए यह बताया गया है। इसकी भाषा अवधी है जिसको साहित्य में पहलेपहल जायसी ने स्थान दिया था। यह दोहा चौपाई में प्रबंध काव्य लिखने की प्रथा जायसी ने ही डाली थी जिसका परिपक्व रूप हमें रामायण में मिलता है। इसकी कथाएँ वाल्मीकीय रामायण से अधिक अध्यात्म-रामायण से मिलती हैं। हिन्दुओं के लिये यह ग्रंथ सर्वस्व हो गया है क्योंकि इसमें लोकधर्म और लोकमर्यादा का पालन गोस्वामीजी ने भली भाँति किया है। उन्होंने जान लिया था

कि संत कवियों की बानियों से समाज के विशृङ्खलित हो जाने की आशंका है। उनकी धारणा यह थी कि ये बाबा लोग, जो कि विशेषतः अशिक्षित और अनधिकारी होते थे, वेदान्त से कुछ चलते शब्दों को लेकर वे समझे बूझे ज्ञान की चर्चा कर अशिक्षित जनता पर बड़ा प्रभाव डाल रहे थे, और वेद पुराण आदि की वे देखे सुने निंदा कर रहे थे, और इस प्रकार अपने अक्खड़ी उपदेशों से मूर्खों को आलसी, कर्त्तव्य-विमुख तथा मर्यादाशून्य बना रहे थे। इन्हीं बुराइयों से समाज की रक्षा करने के हेतु 'मानस' में शैवों और वैष्णवों में मेल कराने का भी स्पष्ट प्रयत्न दीख पड़ता है। सारांश यह कि कविता और उपयोगिता दोनों ही दृष्टि से रामायण एक अद्वितीय पुस्तक सिद्ध हुई।

कवि तुलसीदास

उल्लिखित बातों से अलग जब हम केवल कविताकार की हैसियत से तुलसीदास के ऊपर विचार करते हैं तब बुद्धि चकित होती है और हृदय वास्तविक अभिमान से भर जाता है। यदि किसी कवि के लिये यह कहा जा सकता है कि भाषा, भाव, रस, और छंद उसके वश में थे तो वह कवि तुलसीदास ही हो सकते हैं। शिक्षा, अभ्यास, और प्रतिभा तीनों ही यदि समान परिमाण में किसी कवि में मिलती हैं तो केवल इन्हीं में। सभी कवियों में किसी न किसी ख़ास चीज़ की कमी रह जाती है पर इनका हम कोई अंग कमज़ोर नहीं

देख पाते। जिस रस को इन्होंने उठाया उसी के योग्य इन्होंने भाषा, छंद, भाव, देश-काल और पात्र चुने और सभी रसों को यथास्थान इन्होंने सफलतापूर्वक निवाहा है। कहा जाता है शांत और करुण-रस में इनको सबसे अधिक सफलता मिली है। अवधी इनकी मुख्य भाषा थी पर व्रज-भाषा पर भी इनको पूरा अधिकार था।

तुलसीदास की रचनाओं का हिंदू-जीवन और समाज पर प्रभाव और उनके कारण

गोस्वामीजी की रचनाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण रामचरितमानस, तथा कुछ अन्य ग्रन्थों का इतना प्रभाव हिन्दू जाति पर पड़ा है और अब तक है कि देख कर आश्चर्य होता है। यद्यपि अब समय विलकुल वदल गया है और तुलसीदासजी के सिद्धांत वर्तमान और भविष्य में हिन्दू समाज के उत्थान में वड़ी वाधा डाल सकते हैं तो भी विशेष कर अल्प शिक्षित तथा ग्राम्यजीवन में तो अब भी रामायण का प्रभाव प्रायः ज्यों का त्यों है। साधारण से साधारण निरक्षर हरवाहे और किसान को भी तुलसी की कुछ चौपाइयाँ कंठस्थ हैं और वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य और अपने शंका समाधान उन्हीं के मतानुसार स्थिर कर लिया करता है। कोई भी दिहाती अपनी स्त्री को पीटते समय या कोई ज़मींदार किसी ग़रीव किसान को पीटते समय यह चौपाई ज़रूर पढ़ेगा—

"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। यह हैं ताड़न के अधिकारी॥"

इसी प्रकार ध्यान से देखने से प्रतीत होगा कि हिन्दू समाज की प्रायः हर एक रूढ़ियों के समर्थन में गोसाईं जी की कोई न कोई चौपाई मिलेगी, चाहे उनसे समाज का हित साधन हुआ हो या अनिष्ट। वर्त्तमान समय के अधिकतर विद्वानों की राय में तुलसीदास की चौपाइयों से जनता के हितसाधन की अपेक्षा अहितसाधन और उत्थान की अपेक्षा अधःपतन अधिक संभव है। उनका कहना है कि यदि समाज को संसार की उन्नत जातियों के साथ-साथ क़दम रखना तो तुलसी की चौपाइयाँ उसे सहायता न पहुँचा सकेंगी। तुलसी की समूची रचना में घोर नैराश्य और फलतः अ-कर्मण्यता की छाया दीखती है। स्मरण रहे कि अपने कर्तव्य-पालन से विमुख होकर केवल रामनाम के भजन में समय विताना भी घोर अकर्मण्यता मानी जाती है। पर तुलसी के अनुसार मनुष्य का मुख्य कर्तव्य ही रामनाम का जाप करना है। पर इसके सिवा और भी बातें 'मानस' में हैं। इसमें प्राचीन हिन्दू धर्म और मर्यादा की भी व्याख्या बड़ी सफलतापूर्वक दी गई है। ऊँच-नीच, भाई-बंधु, माता-पिता, पति-पत्नी, सेवक-स्वामी, सास-पतोहू, भाई-भौजाई, गुरु-शिष्य, अतिथि-अभ्यागत, तथा शत्रु-मित्र के साथ परस्पर का आदर्श व्यवहार कैसा होना चाहिए इसकी व्याख्या तुलसीदास ने अपनी व्यक्तिगत धारणा के अनुसार ही सुंदर और सफलता-पूर्वक की है। यह प्रश्न दूसरा है कि उनकी धाराणायें आधुनिक

हिन्दू-समाज के लिये भी उपयुक्त या आदर्श मानी जा सकती है या नहीं। समाजनीति और राजनीति के कुछ मुख्य सिद्धांतों का उल्लेख भी तुलसीदासजी ने अपने निराले ढंग से किया है। इन सब विषयों के अतिरिक्त इनकी रचनाओं में सभी जगह इनके दार्शनिक विचार भी मिलते हैं। इस सम्बन्ध में इनके इतने प्रकार के विचार मिलते हैं कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वास्तव में यह थे, किस विचार के। कहीं-कहीं तो वह शंकराचार्य के अनुयायी कट्टर अद्वैतवादी जान पड़ते हैं और कहीं-कहीं पक्के मूर्तिपूजक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं; पर अधिकतर समालोचकों की राय में ये विशिष्टाद्वैतवादी थे।

गोस्वामीजी के अतिरिक्त अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद चौहान (इन्होंने 'रामायण महानाटक' लिखा था), तथा हृदयराम (जिन्होंने संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा 'हनुमन्नाटक' लिखा) भी रामशाखा के कवि माने जाते हैं।

(ख) कृष्ण शाखा

वल्लभाचार्य

यह पहले ही हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वैष्णव-धर्म दक्षिण से चलकर वल्लभाचार्य आदि चार आचार्यों के द्वारा उत्तर भारत में लाया गया था। वल्लभाचार्य (१५३५-८७ सं०) ने भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में घूम-घूमकर कृष्णभक्ति का प्रचार किया और अंत में कृष्ण की

जन्मभूमि व्रज में आकर इन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की। इनके सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी भी घूम घूम कर कृष्ण-भक्ति का प्रचार कर रहे थे। इनके चलाए हुए मार्ग का नाम 'पुष्टिमार्ग' था। जैसा कि हम देख चुके हैं कि इस मार्ग में जनता के आमोद-प्रमोद के लिये बहुत कुछ सामग्री थी, अतः संगीत इत्यादि का प्रचार इन लोगों में बहुत हुआ। भक्ति और संगीत दोनों का आश्रय पाकर कुछ प्रतिभाशाली कवि भी इस मार्ग की ओर आकर्षित हुए और कुछ रचना भी कृष्णभक्ति पर होने लगी। यह देखकर आचार्य महाप्रभुओं ने सोचा कि यदि कुछ प्रतिभावान् कवियों को शिष्य बनाकर उनसे कृष्णभक्ति के ऊपर कविता कराई जाय तो इनके मत के प्रचार में बड़ी सहायता मिले। इस विचार से पिता-पुत्र दोनों

अष्टछाप

आचार्यों ने चार-चार कवियों को शिष्य बनाकर उनकी 'अष्टछाप' संज्ञा की, अर्थात् उन पर मोहर लगाकर पेटेंट कर लिया। इनके नाम यह हैं—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास, और

सूरदास सं० १५४०-१६२०

नन्ददास। इन सभों का रचनाकाल १६वीं शताब्दी के अन्तिम तथा १७ वीं शताब्दी के पूर्व भाग में था। इनमें से सूरदास तथा नन्ददास सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। औरों के ग्रन्थों का पता नहीं लगता। सूरदास तुलसी से

कम नहीं थे। वल्कि शृंगारवर्णन में तो वहुत आगे थे। इनके महान् ग्रन्थ सूरसागर में (जो कि भ्रम से भागवत का उल्था समझा जाता है) जितने प्रकार के भाव-अनुभाव सम्भव हो सकते हैं सव आगए हैं। यह ग्रन्थ गीतों में लिखा गया है, प्रत्येक पद भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में है जिससे इनकी संगीतनिपुणता का पता चलता है। इसमें वाललीला-सम्वन्धी पद तथा गोपियों के विरह-संवंधी 'भ्रमरगीत' सर्वोत्तम हैं और हिन्दी-साहित्य के अनुपम रत्न हैं। इनके दो ग्रन्थ 'सूर-सारावली' तथा 'साहित्यलहरी'—और भी उपलब्ध हैं।

सूरदास की जीवनी का सारांश

महात्मा सूरदास का जन्म सं० १५४० के लगभग आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव में हुआ था। कोई-कोई इन्हें चंदवरदाई का वंशज कहते हैं पर 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'भक्तमाल' के प्रमाण से ये सारस्वत ब्राह्मण सिद्ध होते हैं। किंवदंती के अनुसार ये जन्मांध थे, पर इनकी रचनाओं पर विचार करने से यह धारणा भ्रांत सिद्ध होती है। कोई भी जन्मांध शृंगार-रससंवंधी भावानुभावों का इतना सूक्ष्म विवेचन तथा प्रकृति का इतना सजीव वर्णन नहीं कर सकता। एक दूसरी जनश्रुति इस संवंध में यह है कि इन्होंने कामक्रोधादिक विकारों की जड़ आँखों को ही समझ कर स्वयं अपनी आँखें फोड़ ली थीं। फिर कहा जाता है कि एक वार जव यह अंधे

होने के कारण कुएँ में गिर पड़े थे तो भगवान् कृष्ण ने इन्हें उबारा था और इन्हें दर्शन दिया था और वे दृष्टियुक्त भी हो गए थे। पर इन्होंने यह कहकर कि जिन आँखों से कृष्ण को देख लिया उनसे फिर और क्या देखना, अंधे ही बने रहने का वर माँग लिया था। पर कृष्ण ने इस पर इन्हें चर्म-चक्षु के स्थान पर ज्ञानचक्षु दे दिये। एक प्रसंग को लेकर एक प्रकार की और कथा प्रचलित है। इसके अनुसार कृष्ण इन्हें कुएँ से निकालकर जब जाने को हुए तो सूरदास ने इनकी बाँह पकड़ ली, ये अपनी दिव्यदृष्टि से उन्हें पहचान गए थे। पर इस पर भी कृष्ण बाँह छुड़ा कर अन्तर्धान हो गए। इस अवसर पर सूर का कहा हुआ एक दोहा प्रसिद्ध है—

बाँह छुड़ाए जात हो, निबल जानि कै मोंहि।
हिरदै सों जब जाइहौ, मर्द बखानौं तोंहि॥

सूरदासजी को भी तुलसी की भाँति युवावस्था में ही संसार से वैराग्य हो गया था और इनके भी असमय वैराग्य का कारण तुलसी की भाँति असाधारण स्त्री-प्रेम ही कहा जाता है। इनकी प्रेयसी ने एक बार झल्लाकर कह दिया था कि इतना प्रेम अगर परमात्मा से करते तो तुम्हारा उद्धार हो गया होता। बस यही वाक्य उनके हृदय में ऐसे चुभ गए कि इन्होंने अपनी आँखें फोड़ लीं और वैरागी होकर भगवद्भजन में लीन हो गए। इसी अवस्था में कुछ दिन बाद वल्लभा-चार्य जी इनके पास आए और इन्हें अपना शिष्य बनाकर

कृष्ण की स्तुति के भजन बनाने का आदेश किया। इसी समय से इन्होंने भागवत के आधार पर गीतों में कृष्ण की पूरी कथा लिखी। आगे चलकर इनके पदों का संग्रह "सूर-सागर" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनकी मृत्यु सं० १६२० में मानी जाती है। यह हिन्दी के सब से बड़े गीतकवि (Lyric poet) माने जाते हैं।

सूर की कविता

सूरदास की कविता के प्रधान गुण हैं माधुर्य और संगीत। इनके प्रधान ग्रंथ "सूरसागर" के सभी पद गेय हैं और कवि ने उन्हें भिन्न-भिन्न राग रागिनियों में रक्खा है। इससे उनकी महान संगीतनिपुणता का भी परिचय मिलता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अनुप्रास आदि शब्दालंकार तथा उपमा आदि अर्थालंकारों को लाने का सोद्योग प्रयत्न तो इनकी कविता में नहीं दीख पड़ता तो भी इनके प्रायः सभी पद इतने ललित, कर्णप्रिय और मधुर बन पड़े हैं कि उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। खास कर जो पद इन्होंने कृष्ण की बाललीला और गोपीकृष्ण की विरहलीला और 'भ्रमरगीत' के सम्बन्ध में रचे हैं वे अद्वितीय हैं। विनयसम्बन्धी बहुत से पद भी इनके बड़े सुंदर बन पड़े हैं। कृष्ण की मुरली और राधिका के 'अनियारे नयन' सम्बन्धी कुछ पद भी इनके अद्भुत हैं। इनका काव्य-क्षेत्र यद्यपि तुलसी के इतना विस्तृत नहीं

है तो भी वात्सल्य और शृंगार विशेष कर विप्रलंभ शृंगार की कविता में ये अपना जोड़ नहीं रखते।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास के अतिरिक्त नंददास का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखयोग्य है। इनके सम्बन्ध में कहा गया है—"सब कवि गढ़िया, नंददास जड़िया"। ये भी सूरदास के समकालीन थे और भगवान की कथा को ही लेकर इन्होंने भी काव्यरचना की थी। कविता की दृष्टि से इनका स्थान बहुत ऊँचा है। संगीत की मात्रा इनके पदों में शायद सूरदास से भी अधिक है। इनके पदों को पढ़ते समय वीणा की झंकार सी निकलती हुई जान पड़ती है। अष्टछाप के प्रायः सभी कवियों की यह विशेषता है कि इनकी कविता में संगीत और पद-लालित्य का ध्यान पद-पद में रक्खा गया है। इन सभों ने गीत-काव्य के ही रूप में काव्यरचना की। यही वह समय था जब कि भारत की संगीत-कला अपने उच्चतम शिखर पर पहुँची थी। नंददास के ग्रन्थों में मुख्य हैं—"भ्रमरगीत", "रास पंचाध्यायी" और "अनेकार्थनाममाला"। इनमें इनका विरह-काव्य, 'भ्रमरगीत', जिसमें गोपीकृष्ण की विरहलीला वर्णित है, सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

नंददास

अष्टछाप के अतिरिक्त दो कवि और कृष्णशाखा में बड़े प्रसिद्ध हुए हैं—विद्यापति तथा मीराबाई। ये दोनों ही गीत-

काव्य अर्थात् गाने योग्य पदों में लिखते थे। विद्यापति तो संस्कृत के भी पूरे विद्वान् थे। भाषा इनकी मैथिली-मिश्रित हिंदी है। 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव इनके आदर्श थे। इनकी कविता यद्यपि राधाकृष्ण के प्रेमवर्णन के रूप में है, पर कहीं-कहीं बेहद अश्लीलता आ गई है। कारण यह है कि वे अपने यजमान मिथिलानरेश के विनोद के लिये ही लिखते थे। सबसे प्रथम काव्य में 'दूती', 'सखी' 'नायक','नायिका' आदि का प्रयोग करनेवाले यही महाशय हुए।

विद्यापति (सं० १४६० में विद्यमान थे)

मीराबाई जो कि तुलसी की समकालीन थीं बड़ी भारी भक्त थीं। यह विशेष पढ़ी-लिखी तो नहीं थीं पर अपने पदों में इन्होंने अपना हृदय निकाल कर रख दिया है। इनके बहुत से पद आज भी गवैयों की ज़वान पर रहते हैं। भावावेश तो कहीं-कहीं इनकी कविता में सूरदास से भी अधिक है। कहा जाता है कि यह प्रसिद्ध संत रैदास की शिष्या थीं और इन्होंने तुलसीदास की प्रेरणा से सम्बन्धियों का त्यागकर हरिभजन में मन लगाया था।

मीराबाई

कृष्णभक्ति में आगे चलकर कई शाखाएँ हो गईं। वल्लभाचार्य्य स्वयं वालकृष्ण के पुजारी थे और उन्हीं के अनुयायी सूरदासजी हुए। एक दूसरे भक्त 'निम्बार्क' वृन्दावन में हुए जिन्होंने 'गोपीकृष्ण' रूप पर अधिक ज़ोर दिया। आगे चलकर

क्रमशः राधा की भक्ति पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। यहाँतक कि राधा का स्थान कृष्ण के ऊपर हो गया। इस विचार के प्रवर्त्तक हित हरिवंशजी हुए। ये भी अच्छे कवि थे। इनके अतिरिक्त एक और स्वामी हरीदास हुए जिन्होंने 'टट्टीवाला' संप्रदाय चलाया। ये बड़े भारी गवैये थे, प्रसिद्ध गवैया तानसेन के गुरु यही थे। इनके तीन-चार संग्रह मिलते हैं।

निम्बार्क

हरीदास

इस मार्ग में 'रसखान' नामक एक मुसलमान कवि भी हो गया है जिसके प्रेमविषय के कवित-सवैये इतने प्रसिद्ध हुए कि प्रेमविषयक सवैयों का नाम ही 'रसखान' पड़ गया। भाषा ये सब से अच्छी लिखते थे। इनका एक ग्रंथ 'प्रेम-वाटिका' बहुत प्रसिद्ध है। घनानंद और रसखान विशुद्ध ब्रजभाषा काव्य के सर्वोत्तम प्रतिनिधि माने जाते हैं।

रसखान

घनानंद

भक्ति-काल के मुख्य कवियों की रचना के उदाहरण—

तुलसीदास

छप्पय

डिगति उर्वि अति गुर्वि सब पर्वत समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल विकल दिगपाल चराचर।

दिग्गयंद लरखरत परत दसकंधहु मुख भर।
सुरविमान हिमभानु भानु संघटित परसपर॥
चौंके विरंचि शंकर सहित कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्मांडखंड कियो चंड धुनि जवहिं राम शिवधनु दल्यो॥

—कवितावली

आजु सुदिन शुभ घरी सुहाई,
रूपसील गुन धाम राम नृप, भवन प्रगट भए आई।
अति पुनीत मधुमास लगन ग्रह, वार जोग समुदाई।
हरषवंत चर अचर भूमिसुर तनुरुह पुलकि जनाई।
बरखहिं विबुधनिकर कुसुमावलि, नभ दुंदुभी बजाई।

देखी जानकी जब जाइ,
परमधीर समीर सुनि कै, प्रेम न उर समाइ।
कृश शरीर सुभाय सोभित, लगी उड़ि उड़ि धूलि।
मनहु मनसिज मोहिनी मणि गई भोरे भूलि।

—गीतावली

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहु मदन दुंदुभी दीनी।
मनसा विश्वविजय कहँ कीन्ही॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।
सिय मुख ससि भए नयन चकोरा॥

भये विलोचन चारु अचंचल।
मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगंचल॥
देखि सीय सोभा सुख पावा।
हृदय सराहत वचन न आवा॥
जनु विरंचि सब निज निपुनाई।
विरचि विश्व कहँ प्रगट दिखाई॥
सुंदरता कहँ सुंदर करई।
छविगृह दीपसिखा जनु बरई॥
सब उपमा कवि रहे जुठारी।
किहि पटतरिय विदेहकुमारी।

—मानस

सूरदास

मैया कवहिं बढ़ैगी चोटी,
कितिक बार मोहि दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति ' बल ' की बेनी ज्यों ह्वैहै लांबी मोटी॥

पाहुनी करिदै तनक मह्यो,
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो।
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वैं ढरकि रह्यो॥

मुरली तऊ गोपालहिँ भावति,
सुन री सखी जदपि नँदनंदहिँ नाना भाँति नचावति।
राखति एक पायँ ठाढ़े करि अति अधिकार जनावति॥

आपुन पौढ़ि अधर सज्जापर कर पल्लव सों पद पलुटावति।
भ्रुकुटी कुटिल कोप नासा पुट हम पर कोपि कँपावति॥

—सूरसागर

नंददास

जौ उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तें।
वीजविना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ तें॥
वा गुन की परछाहँरी माया-दरपन वीच।
गुनतें गुन न्यारे भए, अमल वारि जल कीच॥
सखा सुनु श्याम के।

—भ्रमरगीत

फटिक-धरासी किरन कंज रंध्रन जव आई।
मानहुँ वितन वितान सुदेसे तनाव तनाई॥
तव लीन्हों कर-कमल योगमाया सी मुरली।
अघटित-घटना-चतुर वहुरि अधरन सुर जुरली॥

—रास पंचाध्यायी

विद्यापति

सरस वसंत समय भल पावति, दछिन पवन वह धीरे।
सपनहु रूप वचन इक भाषिय, मुख से दूर करु चीरे॥
तोहर वदन सम चाँद होअथि नहिं, कैयो जतन विहकेला।
कैवेरि काहि वनावत नव कै, तैयो तुलित नहिं भेला॥

लोचन तूअ कमल नहिं भैसक, से जग के नहिं जाने।
से फिरि जाइ लुकैलन्ह जल भए, पंकज निज अपमाने॥
भन विद्यापति सुन वर जोड़त, ईसम लछुमि समाने।
राजा सिवसिंह रूप नरायन, लखिमा देइ प्रतिभाने॥

मीराबाई

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनी मूरति, साँवरी सूरति, नैना बने रसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिए भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर वैजंती माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल॥
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्त वछल गोपाल॥

रहीम

तबही लौं जीवो भलो, देवो होय न धोम।
जग में रहिवो कुँचित गति उचित न होय रहीम॥
ये रहीम दर दर फिरैं, माँगि मधुकरी खाहिँ।
यारो यारी छाँड़िए, अब रहीम वे नाहिँ॥
रहिमन वे नर मरि चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिँ॥

—दोहावली

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था॥

कटितट विच्चमेला पीत सेला नवेला।
आज, वन अलवेला यार मेरा अकेला।

जाति हती सखि गोहन में मनमोहन को लखि ही ललचानो।
नागरि नारि नई ब्रज की उनहूँ नँदलाल को रीझि के तानो॥
जाति भई फिरिकै चितई, तव भाव रहीम यहै उर आनो।
ज्यों कमनैत दमानव में फिरि तीर सों मारि के लाल निसानो॥

—नगर शोभा

नरहरि

अरिहु दंत तिनु धरै, ताहि नहिं मारि सकै कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, वचन उच्चरहिं दीन होइ।
अमृत पय नित स्रवहिं, वच्छ महि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिँ॥
कह कवि नरहरि अकवर सुनौ विनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत मुएहु चाम सेवइ चरन॥

गंग

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहिँ करत कमल वन।
अहिफन मनि नहिं लेत, तेज नहिँ वहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो, चक्क चक्की न मिलै अति।
वहु सुंदरि पद्मिनी, पुरुष न चहैँ न करैं रति॥
खल भलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रविरथ खस्यो
खानान खान वैरम-सुवन, जवहिँ क्रोध करि तँग कस्यो॥

रसखान

मानुष हों तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जो पसु हों तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन ॥
पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन ।
जो खग हों तो बसेरो करौं नित कालिँदि कूल कदंब की डारन ॥

पन्द्रहवीं से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के अन्दर कुछ सूफ़ी सम्प्रदाय के अनुयायी मुसलमान फ़क़ीरों ने हिन्दी में कई प्रेम-गाथाएँ (Romances) लिखीं जो कि वास्तव में स्थायी साहित्य में स्थान पाने योग्य हुईं। ये कबीर की भाँति कोई मत या सम्प्रदाय चलानेवाले फ़क़ीर नहीं थे और न ये खंडन-मंडन के झंझट में ही अपने को डालते थे और न किसी सम्प्रदाय पर कटाक्ष या आक्षेप करने की इनकी आदत थी। ये पूरबी-अवधी बोली में दोहा-चौपाइयों में लंबे-लंबे काल्पनिक उपाख्यान लिखा करते थे और ग्रन्थ की समाप्ति के समय कथानक को अन्योक्ति (allegory) के रूप में समझा देते थे। कथावस्तु तो वही पुराने ढंग की होती थी, जैसे किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी की प्रशंसा किसी से सुन उसके प्रेम में पागल हो योगी बनकर उसके अन्वेषण में निकल पड़ना, और असंख्य कठिनाइयों को झेलते हुए अन्त में उसे प्राप्त करना। पर इसी लौकिक प्रेम के द्वारा वे उस विश्वव्यापी प्रेम का दिग्दर्शन करा देते थे जिसका आधार परमात्मा है। अन्योक्ति (allegory) को वे इस प्रकार समझाते थे। राजकुमार साधक है और उसका

प्रेमगाथाओं की विशेषताएं

लक्ष्य वही राजकुमारी ही ईश्वर है, उसकी प्रशंसा सुनानेवाला तथा समय समय पर उसे प्राप्त करने की युक्ति सुझानेवाला गुरु है जिसके बिना विश्वप्रेम का पाना ये सूफ़ी कवि असम्भव समझते थे। अधिकतर यह कार्य किसी पक्षी जैसे सुआ या हंस के सुपुर्द रहता था। रास्ते में आनेवाली दुर्घटनाओं तथा आपत्तियों की समता साधक के मार्ग में पड़नेवाले विघ्नों से हो सकती है।

इन गाथाओं का प्रभाव हिंदू और मुसलमान दोनों पर समान रूप से होता था। सूफ़ियों के अनुसार यह संसार एक सर्वव्यापक प्रेमसूत्र से बँधा हुआ है जिसके आश्रय से साधक उस अखंड प्रेममूर्त्ति ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है।

इन कवियों का विरह-वर्णन

इन कवियों का विरहवर्णन बड़ा विचित्र और करुणापूर्ण होता है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं वह अस्वाभाविकता की सीमा पर स्थित दिखाई पड़ता है। जायसी की पद्मावती जब विरह का दीर्घ निश्वास लेती थी तो उसकी गर्मी से जंगल के जंगल जल कर खाक हो जाते थे। राजकुमार 'प्रेम की पीर' में खून के आँसू बहाता था। यहाँ विरह विषयक इन अतिशयोक्तियों का मुख्य कारण यह है कि सूफ़ी फ़क़ीर ईश्वर के विरह को साधक या भक्त की प्रधान सम्पत्ति समझते थे जिसके

विना-साधना के मार्ग में वह न तो प्रविष्ट ही हो सकता है और न उसकी आँख ही खुल सकती है।

इन कवियों की ईश्वर सम्बन्धी नवीन कल्पना

प्रत्येक मार्ग में ईश्वर या आराध्यदेव की भिन्न-भिन्न रूपों से कल्पना की गई है। सूफ़ी सम्प्रदाय वालों का ढंग सबसे निराला था। इन्होंने प्रेयसी के रूप में ईश्वर की कल्पना की। परन्तु यह भावना हिंदू समाज के किसी भी मार्ग में प्रचलित नहीं थी। वल्लभ सम्प्रदाय के पुष्टिमार्ग में ठीक इसकी उलटी भावना प्रचलित थी और अब भी है। इसमें भक्त व्रज की गोपियों की भाँति आराध्यदेव को अपना स्वामी और अपने को उसकी स्त्री के रूप में देखता है। और फिर उक्त मार्ग में "मों सों तुमको बहुत हैं हमको तुम सों एक" वाली भावना भी व्यापक थी। भारतीय कल्पना और भारतीय साहित्य की प्रारंभ से ही यह विशेषता रही है कि इसमें नायक-नायिका या प्रेमी-प्रेमिका के परस्पर प्रेम के विषय में नायिका या प्रेमिका ही अधिक विह्वल तथा प्रेमार्थ देखी जाती है। नायक या प्रेमी को उतनी चिंता नहीं होती क्योंकि उसकी बहुत सी प्रेमिकाएँ हो सकती हैं जो कि समय समय पर बदला करती हैं। इसी प्राचीन और परंपरागत धारणा के कारण हिंदू समाज के मन में एक लोकप्रिय प्रेमिका के रूप में आराध्यदेव की कल्पना जँची नहीं, और फलतः उक्त विचार रखने वाले कवियों का काव्य भी इस

समाज को असंगत जान पड़ा और उसका यथोचित सम्मान न हो सका। यही कारण है कि इन कवियों में बहुतों के ग्रंथ अब तक अंधकार में पड़े रहे और पड़े रह जाते यदि प्राचीन ग्रंथों की खोज करनेवाले इनका उद्धार करने में विशेष रूप से प्रयत्नशील न होते।

प्रेम गाथाएं लोकप्रिय क्यों नहीं हो सकीं

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि कबीर आदि संत कवियों ने भी निराकार और एक प्रकार की निराली विश्वप्रेमपूर्ण पर रहस्यमयी भक्ति का उपदेश दिया था और इन कवियों ने वेद, पुराण, पूजा, नमाज़, मंदिर और मसजिद आदि की निंदा भी की थी फिर भी क्यों तत्कालीन भारतीय समाज पर उनकी वानियों का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा। इनकी कविता में साहित्यिक गुणों की बड़ी कमी थी। ये कवि बहुधा कुछ पढ़े-लिखे भी नहीं होते थे; इनकी भाषा और इनके छंद सभी अव्यवस्थित थे पर फिर भी इनकी वानियों का बहुत व्यापक रीति से इस देश में आदर हुआ। इसके विपरीत जायसी आदि कवियों की भाषा अपेक्षाकृत बहुत कुछ परिमार्जित, सुव्यवस्थित, अलंकृत और साहित्यिक थी। इनके भाव भी बड़े मार्मिक और कोमल थे। वेद-पुराण तथा शास्त्र सम्मत आराधनाविधियों पर कहीं इन्होंने आक्षेप भी नहीं किए हैं। फिर भी न जाने क्यों जनता में इनका साहित्य लोक प्रिय न हो सका। इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि पहले तो

कबीर आदि संतों की वानियों का प्रभाव अधिकतर समाज की निम्नतर श्रेणी के लोगों पर ही अधिक पड़ा। उच्च श्रेणी के शिक्षित समुदाय तथा द्विजातियों ने सदा से इन वानियों का उपहास सा किया है। और संतों में अधिकतर शूद्र ही थे जिनकी गणना अपने विशेष तत्त्वज्ञान और अनुभूति के ही कारण से महात्माओं में होती है। कबीर मुसलमान, नामदेव दरजी, रैदास चमार, और दादू धुनिया थे। स्वभाव ही से मध्यम और निम्नश्रेणी के लोगों के साथ इनकी अधिक सहानुभूति थी। शूद्रों का समाज में कोई स्थान न था। इन संतों ने समाज में समता का संदेश दिया जो कि दलित जातियों को बहुत ही अनुकूल जान पड़ा और उन्होंने इनकी वानियों को बड़े चाव से अपनाया। पर जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों की रचना में इस प्रकार का कोई संदेश न था। इन्होंने लौकिक प्रेम के द्वारा उस व्यापक विश्वप्रेम के निरूपण की सफल चेष्टा की जिसके प्राप्त होने पर आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। इसी विचार को स्पष्ट करने के लिये ही शायद प्रेममार्गी कवियों ने अपनी कथाओं को दुखांत रक्खा है। और इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये ही कदाचित् इनको अपने कथानकों के ऐतिहासिक तथ्य को सुविधानुसार बदलना पड़ जाता था। हम देखते हैं कि इनकी सभी कथाओं के मूल में कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना होती है पर समय समय पर वह इतनी परिवर्तित की हुई मिलती है कि जिसका कोई ठिकाना नहीं।

भाषा इन सभी गाथाओं की अवधी है पर उसमें बहुधा ग्रामीणतादोष आ गया है। दोहा और चौपाई के अतिरिक्त और कोई छन्द काम में नहीं लाया गया है। पाँच पाँच चौपाई के बाद एक एक दोहे का क्रम बराबर रक्खा गया है। यही ढंग तुलसीदास ने आगे चल कर अपने रामायण के लिये अपनाया। इन गाथाओं में एक मार्के की बात यह है कि ये सब बिलकुल एक ही ढंग पर लिखी गई हैं। यदि लेखक का नाम न मालूम हो तो अपरिचित मनुष्य देख कर यही कहेगा कि सब एक ही लेखक की लिखी हुई हैं।

प्रेमगाथाओं की भाषा

मुख्य सूफ़ी कवियों तथा उनके उपाख्यानों के संक्षिप्त परिचय नीचे दिए जाते हैं—

कुतबन

हिंदी के प्रथम सूफ़ी कवि कुतबन विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में शेरशाह के पिता हुसेनशाह के आश्रय में रहते थे। इनके गुरु चिश्ती वंश के प्रसिद्ध शेख बुरहान थे। इन्होंने "मृगावती नाम की एक प्रेमगाथा लिखी जिसमें चंद्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचन-पुर की राजकुमारी मृगावती की कथा वर्णित है। राजकुमार संयोग से एक बार मृगावती को देख कर उस पर मोहित हो गया और उससे मिलने के लिये उसने अनेक प्रयत्न किए

मृगावती

पर सब इसलिये व्यर्थ हुए कि मृगावती उड़ने की विद्या जानती थी। सैकड़ों कठिनाइयाँ झेलने और असह्य विरह-यातना भोगने पर अन्त में उसका मृगावती से मिलना उस समय हुआ जब वह निराश होकर रुकमिनी नाम की एक सुंदरी का किसी राक्षस के हाथ से उद्धार कर उसे अपनी प्रेयसी बना चुका था। अन्त में वह रुकमिनी और मृगावती दोनों ही को अपनी रानियाँ बनाता है, पर यह लौकिक स्त्री-सुख उसके भाग्य में नहीं था। एक दिन वह अचानक हाथी पर से गिरकर मर गया और दोनों रानियाँ उसके साथ सती हो गईं। इस उपाख्यान के सभी कथानकों में का कोई न कोई रहस्यात्मक अर्थ है। यदि राजकुमार को हम साधक की आत्मा और मृगावती को परमात्मा के रूप में देखें तो सभी घटनाओं के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। प्रेम की परिपक्वावस्था में आराध्यवस्तु के मिलने के बाद राजकुमार का मिलना और कुछ नहीं केवल आत्मा का परमात्मा में मिलना है। इस कथा का उल्लेख जायसी ने अपनी पद्मावत में किया है।

मंझन

मंझन की लिखी हुई "मधुमालती" दूसरी प्रेमगाथा है। इसकी एक खंडित प्रति ही नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में मिली है। इसमें रोचकता मृगावती से अधिक है और इसके कवि मंझन को रस तथा भाव निरूपण में अच्छी सफलता

मिली है। प्रकृतिवर्णन भी मंझन का बड़ा मनोहर हुआ है। इसका रचना काल सं १५५० और ६५ के बीच में था। "मधु-मालती" का भी उल्लेख जायसी ने किया है।

प्रेम मार्गी कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका रचना काल सं० १५६७ के लगभग शेरशाह के राजत्वकाल में था। "पद्मावत" और "अखरावट" नाम की इनकी दो गाथाएँ मिली हैं, जिनमें पद्मावत बहुत प्रसिद्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित इसका बड़ा सुन्दर संस्करण नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है. जायसी अवध प्रांत के जायस नाम के एक कस्बे के रहनेवाले थे और प्रसिद्ध सूफ़ी फकीर शेख़ मोहम्मदी के शिष्य थे। इनका ग्रंथ पद्मावत बहुत ही सरल अवधी में लिखा गया है। भाषा इतनी सहजसुन्दर और इतनी स्वाभाविक है कि कहीं कहीं तो ग्रामीणता दोष से युक्त भी कही जा सकती है। अलंकारों की बहार भी कहीं कहीं अच्छी है पर कविता को इन्होंने किसी प्रकार के वाह्याडंवर से विभूषित करना ठीक नहीं समझा। रस और भावानुभाव की सच्ची अभिव्यंजना को ही ये काव्य का प्राण समझते थे। जहाँ कहीं भी उपमा आदि अर्थालंकार वा अनुप्रासादि शब्दालंकार इनकी कविता में मिलते भी हैं तो उन्हें देखने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि ये उन्हें लाने के लिये ही नहीं लाए हैं

जायसी

बल्कि वे प्रसंगवश स्वाभाविक रीति से ही यथा स्थान आ गए हैं। पूरा ग्रंथ प्रेममार्गी कवियों की परंपरानुसार दोहा चौपाई में ही है। क्रम वही रक्खा गया है, पाँच पाँच चौपाई के बाद एक दोहा। स्मरण रहे ये लोग दोही पंक्तियों या पदों में एक चौहाई को पूर्ण समझते थे जिनके चार में जैसा कि उसके नाम ही से स्पष्ट है। इनका मृत्यु संवत् निश्चित नहीं है।

इनके अतिरिक्त दो तीन और सूफ़ी कवि हुए हैं तथा इस ढङ्ग का काव्य करनेवाले कुछ हिन्दू कवियों का भी पता चला है पर अभी इनके ग्रन्थों का ठीक पता नहीं है। बात यह हुई कि जायसी के रचनाकाल के कुछ ही दिनों बाद तुलसी के के रचनाकाल का आविर्भाव हुआ और इसके बाद ही प्रेम मार्गी कवियों का ह्रास हो चला। जायसी के बाद उसमान और नूरमहम्मद को कुछ प्रसिद्धि मिली। उसमान की "चित्रावली" में पद पद पर प्रायः सभी बातों में पद्मावत का अनुकरण सा जान पड़ता है! षड्रितु नगर, यात्रा, विरह आदि सभो का वर्णन पद्मावत से इतना मिलता है कि यदि कवियों के भिन्न भिन्न नाम न मालूम होते तो दोनों एक ही कवि की रचना माने जाते। उसमान जहाँगीर के राजत्वकाल में वर्तमान थे। नूरमहम्मद की इन्द्रावती सं० १८०१ के आस-पास की रचना है।

इस मार्ग के कवियों की कविता तुलसी और सूर आदि सगुणभक्ति का संदेश लानेवाले कवियों की रचना के उदय

प्रेममार्गी कविता का ह्रास

होने के साथ ही दबने लगी और ज्यों-ज्यों सगुणभक्ति के कवियों की संख्या बढ़ती गई त्यों त्यों इनकी कविता दबती ही चली गई। यहाँ तक कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भकाल तक या अधिक से अधिक उक्त शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक इनकी कविता लुप्तप्राय हो चुकी थी। इस मार्ग की कविता तो बहुत दिन तक होती रही और कुछ कवियों के नाम भी प्रसिद्ध हुए जैसे शेख़नबी, कासिमशाह, फ़ाज़िलशाह आदि। आगे चलकर इस क्षेत्र की कविता सूफ़ी मुसलमान कवियों तक ही परिमिति नहीं रह गई थी। हिन्दू कवियों ने भी इसे अपनाया था। उस समय साहित्य सेवासदन में साम्प्रदायिकता की आग नहीं धधकती थी। जो हो, हिन्दू प्रेममार्गी कवियों को प्रसिद्धि इसलिये नहीं मिल सकी कि नव तक सूर और तुलसी की कविताज्योति काफ़ी जगमगा चुकी थी। हिन्दुस्तान को इन महाकवियों की रचना इतनी हृदय-हारिणी और इनके उपदेश इतने अनुकूल जँचे कि इनके सामने सन्त और प्रेममार्गी कवि दोनों ही छिप गए। बहुतों के ग्रन्थ लुप्त होगए और बहुत अभी तक अनुसन्धान में मिलते जो आ रहे हैं।*

---

*शेख निसार नामी एक कवि की "यूसुफज़ुलेखा" नाम की एक प्रेम-गाथा अभी गत वर्ष "हिन्दुस्तानी एकेडेमी" को खोज में मिली है और इसका समुचित सम्पादन भी उक्त संस्था के कार्यकर्ताओं द्वारा कराया जा रहा है।

अकबरी दरबार और हिन्दी-साहित्य

सूर और तुलसी का आविर्भाव अकबर के शासनकाल के समय ही हुआ था, पर इससे यह समझना कि मुगलसम्राटों के प्रोत्साहन से ही हिन्दी में ऐसे ऐसे महाकवि हो सके, भ्रम है। यह एक विचित्र संयोग था जिसे दैवसंयोग कहना ही ठीक होगा, कि हिन्दी पद्यसाहित्य का उत्थान उसी समय से हुआ जब से मुसलमानों ने हिन्दुस्तान पर अपना आतंक जमाना आरंभ किया। आगे मुसलमान बादशाहों के उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचने के समय, अर्थात् अकबर के समय में, हिन्दी कविता भी उच्चतम शिखर को पहुँच रही थी, और मुसलमान शासकों की अधोगति के साथ ही हिन्दी कविता की अवस्था भी बिगड़ने लगी। यथार्थ में बात यह थी कि आरम्भ में लड़ाई झगड़े में भाटों और कड़खैतों के सिवा किसी को काव्यकला की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला। पठानों के समय तक बहुत कुछ शान्ति स्थापित हो चली थी, अतः हिन्दू कवियों की प्रतिभा ने यथावसर फिर अपना चमत्कार दिखाना आरम्भ किया। कालिदास और भवभूति के वंशधर अभी हिन्दुस्तान में मौजूद थे, उनको अपना जौहर दिखलाने के लिये सिर्फ़ शान्ति की आवश्यकता थी जो मुसलमानों के राज्य के स्थिर होने पर उन्हें मिलने लगी थी थीं।

अकबरी दरबार का शांतिमय वातावरण कविता के विकास में सहायक हुआ

फिर इसी अवसर पर रामानन्द आदि आचार्यों के उद्योग से जो नवीन भक्तिस्रोत उमड़ पड़ा था उसने तो कवियों में जान डाल दी। इस प्रकार अवसर पाकर हिन्दी-साहित्य गौरवान्वित हो उठा। यह पूर्ण रूप से स्वाभाविक रीति से ही हुआ। इस काल के कुछ पहले ही कबीर तथा जायसी जैसे मुसलमान कवियों पर भी इस भक्ति और प्रेम के स्रोत का प्रभाव पड़ चुका था और वे भी सब जातीय भेद-भाव भूल हिन्दू कवियों में ऐसे मिल गए थे मानों उनकी मातृभाषा हिन्दी ही थी। यह भी राज दर्बार के प्रभाव से नहीं हुआ था। इतिहास में प्रसिद्ध है कि कबीर को सिकन्दर लोदी ने कितना तंग किया पर इन्होंने कभी उसके सामने सिर नहीं नवाया। सूरदास को भी अकबर ने बहुत लालच देकर बुलवाया था पर ये वृन्दावन छोड़ कर कहाँ जा सकते थे। तुलसी को तो जहाँगीर ने कारागार में ही डाल रक्खा था। ये लोग लौकिक विषयों पर लिखना सरस्वती का अपमान करना समझते थे। ये परमात्मा की भक्ति के नशे में चूर थे, इन्हें बाहर से किसी के प्रोत्साहन की न तो आवश्यकता थी और न इन्हें इसकी परवा ही थी। अकबर ने अपनी नई नीति के अनुसार भारतवर्ष की ललितकलाओं का समुन्नन

मुसलमान शासकों ने निजी तौर पर हिन्दी-कविता को वास्तविक प्रोत्साहन नहीं दिया था

करने का सोद्योग अवसर अवश्य दिया। इसका फल यह हुआ कि अर्थलोलुप तथा दर्बारी प्रतिष्ठा के अभिलाषी कवि, चित्र-कार तथा संङ्गीतज्ञ अधिक संख्या में दिखाई पड़ने लगे। पर यह स्पष्ट है कि मान-प्रतिष्ठा के लालच से 'प्राकृत जन गुण गान' करनेवाले कवियों की कविता उस उच्चता को नहीं पहुँच सकी जो सूर और तुलसी की।

अकबर ने ललित-कलाओं को प्रोत्साहन दिया

हाँ, अकबरी दरबार के संसर्ग से हिन्दो कविता को विशुद्ध कला की दृष्टि से अवश्य कुछ प्रोत्साहन मिला। बात यह थी कि दर्बार में फ़ारसी के और हिन्दी के कवियों का परस्पर विचारविनिमय अवश्य होता रहा होगा। उस समय तक फ़ारसी कविता बहुत कुछ परिमार्जित हो चुकी थी। हिन्दी के कवियों ने अवश्य ही फ़ारसी के उत्तमोत्तम शेरों को सुना होगा और ऐसी अवस्था में हिन्दी-कविता में वही बात पैदा करने की धुन उन्हें सवार हुई होगी। अकबर के दरबार में हिन्दी फ़ारसी दोनों ही प्रकार के कवियों का जमघट रहता था। परस्पर के संयोग से बहुत से मुसलमान दरबारी हिन्दी कविता करने लगे और हिन्दू फ़ारसी कविता। श्रृङ्गार, वीर, नीति आदि विषयों ने भक्ति के स्थान पर कब्जा किया। नायिकाओं के नखसिखवर्णन तथा ऋतुवर्णन आदि की नीव पड़ी।

विशुद्धकला की दृष्टि से अकबरी दरबार में हिन्दी-कविता की उन्नति

अकबरी दरबार के मुख्य कवियों के नाम ये हैं—

(१) अब्दुर् रहीम ख़ान ख़ाना, प्रसिद्ध सिपहसालार बैरामख़ाँ के पुत्र और दर्बार के सब से प्रसिद्ध कवि थे। रहीम के नीतिविषयक दोहे हिन्दी में अनुपम हैं। परन्तु इनके दोहों में वृंद और गिरिधर के समान कोरी नीति-संबंधी कविता मात्र ही नहीं है। उनमें मानवसमाज तथा जीवन की भिन्न भिन्न परिस्थितियों की सच्ची अनुभूति और उनका मार्मिक विवेचन मिलता हैं। इनकी रचना में कल्पना की वह उच्छृंखल उड़ान, जिसके लिये फ़ारसी और उर्दू कविता प्रसिद्ध है, नहीं है। इन्होंने बड़े उदार भाव से मनुष्यजीवन की वास्तविक समस्याओं को समझने की चेष्टा की और अपने विचार के अनुसार इन्हें हल करने की भी तदबीर बताई। यही कारण है कि तुलसी के बाद रहीम ही के दोहे इस देश के निवासियों में इतने लोक प्रिय हो सके। रहीम के प्रत्येक पद में उनकी वैयक्तिकता की छाप पड़ी हुई मिलती है। शायद ही कोई पद इनका ऐसा हो जिसमें जीवन की किसी विशेष परिस्थिति पर प्रकाश न डाला गया हो और उसके साथ कवि की सच्ची उदार और मार्मिक सहानुभूति न झलकती हो। इनका स्थान हिंदी-साहित्य में सब से निराला है। ये अपने ढंग के पहले और अंतिम कवि हुए। कविता में वास्तविकता का ध्यान जितना रहीम ने रक्खा उतना किसी ने नहीं।

रहीम अपने ढंग के पहले और अंतिम कवि

रहीम का नाम तो उनके दोहों के लिये भी प्रसिद्ध है, पर सोरठा, कवित्त, सवैया और वरवै आदि पर भी इनको पूरा अधिकार था। कुछ गेय पद भी इनके मिलते हैं। इससे भी कहीं अधिक व्यापक अधिकार इनको भाषा पर था। तुलसी की भाँति व्रज और अवधी दोनों ही भाषा समान रूप से इनके वश में थी। खड़ी वोली में भी इनकी कुछ फुटकर रचना मिलती है। इनकी मृत्यु सं० १६८२ में हुई थी। इनके मुख्य ग्रंथ ये हैं—रहीम दोहावली या सतसई, वरवैनायिकाभेद, शृङ्गारसोरठ, मदनाष्टक और रासपंचाध्यायी। इनकी कुछ स्फुट रचना का अनुसंधान पं० मायाशंकर याज्ञिक ने किया है। वे ये हैं—नगर शोभा, फुटकर वरवै तथा फुटकर कवित्त सवैये। याज्ञिकजी ने "रहीमरत्नावली" नाम से इनका एक पूरा संग्रह भी निकाला है। रहीम हिन्दी के अतिरिक्त फ़ारसी, तुर्की, अर्वी, और संस्कृत के भी विद्वान थे, और इन भाषाओं में भी इन्होंने साहित्य-सेवा की है। विद्वान और कवि होने के साथ ही ये एक वड़े सुयोग्य सेनानायक, कवियों का वड़ा सम्मान करने वाले और याचकों को आशातीत दान देनेवाले भी थे।

(२) नरहरि सहाय (महापात्र नरहरि वंदीजन)—इनका जन्म संवत् १५६२ और मृत्यु १६६७ में कहा जाता है। इनका निवास स्थान असनी-फतेहपुर में था और ये अकवरी दरवार के मुख्य कवियों में से थे। इनके रचे हुए दो ग्रंथ कहे जाते हैं—'रुक्मिणी मंगल' और 'छप्पयनीति'। 'कवित्तसंग्रह' नाम के

इनके एक और ग्रंथ का भी अनुसंधान हुआ है। इन्होंने व्रज भाषा में ही कवित्त, सवैयों और छप्पय में कविता की। इनकी भाषा वहुत गठी हुई और मधुर है। कहा जाता है कि अकवर इन्हें वहुत मानता था। किंवदंती है कि एक वार इनके एक छप्पय पर मुग्ध होकर अकवर ने राज्य में गोवध वंद करा दिया था। उक्त छप्पय आगे उदाहरणों में उद्धृत किया गया है।

(३) गंग—ये रहीम को वड़े प्रिय थे। इनकी कविता वड़ी सुन्दर होती थी। ये लौकिक विषयों पर लिखनेवाले सव कवियों में श्रेष्ठ माने जाते हैं। इनकी अधिकतर रचना शृंगार और वीर रस सम्वन्धी ही है जोकि फुटकर कवित्त और सवैयों या दोहों में मिलती है। इनका कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला, पर जो कुछ पद्य इनके मिलते हैं वे कविता की दृष्टि से वहुत ऊँचे हैं। इनके पास कोई विशेष संदेश या मौलिक विचार तो नहीं था पर उस समय की प्रथा और रुचि के अनुरूप इनकी कविता वड़ी मार्के की होती थी। ख़ास कर ये व्यंगोक्तिपूर्ण अतिशयोक्तियों के लिये वहुत प्रसिद्ध हैं। कहीं-कहीं वक्रोक्ति और वाग्वैचित्र्य की छटा भी इन्होंने वहुत अच्छी दिखाई है। इन्हीं गुणों पर मुग्ध होकर ही शायद दास कवि ने यहां तक कहा है—"तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार।" पर यही गंग किसी मुसलमान नवाव या स्वयं अकवर द्वारा ही हाथी से चिरवा डाला गया था। इसके वहुत

प्रमाण मिलते हैं कि यह इस प्रकार मरवा डाले गए थे पर यह निश्चय नहीं है कि किसने ऐसा कर हिन्दी कविता को प्रोत्साहन दिया। यह तो सभी जानते हैं कि अकवरी दरवार से इनका सम्वन्ध अवश्य था क्योंकि खानख़ाना रहीम इनके प्रधान भक्त थे। यहाँ तक कहा जाता है कि इन्होंने एक बार एक छप्पय पर मुग्ध हो गंग को छत्तीस लाख रुपये दे डाले थे। यह छंद हमने उदाहरणों में उद्धृत कर दिया है। अस्तु। इनके ग्रन्थ कोई भी नहीं मिलते, पर फुटकर कविता वहुत मिलती है। ये अपनी निर्भीक और उद्दंड उक्तियों के लिये वहुत प्रसिद्ध हैं। अपनी खरी वातों ही के लिये शायद इन्हें मृत्युदंड भोगना पड़ा था, पर मृत्यु के समय भी दंड देने वाले राजा के प्रति कहा हुआ इनका यह दोहा प्रचलित है—

कवहुं न भँडुवा रन चढ़े, कवहुँ न वाजी वंब।
सकल सभाहिं प्रनाम करि, विदा होत कवि गंग ॥।

इनकी जीवनी के वारे में प्रामाणिक रूप से कोई वात ज्ञात नहीं हो सकी है। इतना प्रसिद्ध है कि ये जाति के व्राह्मण थे। इनका जन्म और मृत्यु समय भी निश्चित नहीं है। रहीम के आश्रित और समकालीन तो ये थे ही और इसी से इनका रचना काल १७वीं शताब्दी का मध्यभाग मानना चाहिए।

(४) राजा वीरवल }
(५) राजा टोडरमल } ये दोनों अकवर के मन्त्री थे और कवि भी थे।

(६) तानसेन—ये मशहूर गवैये थे और कवि भी थे।

इनके दो ग्रन्थ 'संगीतसार' और 'रागमाला' मिलते हैं।

(७) राजा मनोहरदास।

(८) फ़ैज़ी—अकबरी दरबार के प्रसिद्ध विद्वान् फ़ैज़ी ने हिन्दी में भी बहुत से दोहे लिखे हैं।

अकबर के समय के अन्य कवि

(१) सेनापति (जन्म लगभग सं० १६४६)। ये ऋतु-वर्णन में अद्वितीय थे। भाषा पर इनको पूरा अधिकार था। शब्दालंकारों के ये बड़े प्रेमी थे पर कहीं कृत्रिमता नहीं आने पाती थी। ये रामभक्त थे, और इन्होंने भक्ति-विषयक कवित्त भी बहुत से लिखे हैं। "कवित्त-रत्नाकर" "काव्य-कलपद्रुम" इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

(२) मुबारक।

(३) कादिर।

(४) बलभद्रमिश्र—प्रसिद्ध आचार्य केशव दास के बड़े भाई थे। इनका "नखशिख शृङ्गार" अपने विषय पर शायद सबसे अच्छा ग्रन्थ हुआ है। इनके अन्य ग्रन्थ (१) बलभद्री व्याकरण (२) हनुमन्नाटक (३) गोवर्द्धन सतसई (४) दूषण विचार। अन्तिम ग्रन्थ में काव्य के दोषों की विवेचना की गई है।

(५) बनारसीदास—ये पद्य के अतिरिक्त ब्रजभाषा में गद्य भी लिखते थे। इनके ये ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं—

(१) अर्द्ध कथानक, (२) वनारसी विलास (फुटकर-कवित्तों का संग्रह), (३) नाहक रामय सार, (४) नाम-माला (कोष), (५) वेद्‌निर्णय पंचाशिका, (६) मार-गन विद्या, (७) मोक्षपदी ध्रुव वंदना कल्याण मंदिर भाषा। नीचे अकवरी दरबार तथा उसके शासन काल के आसपास के कुछ मुख्य कवियों की रचनाओं के कुछ चुने हुए उदाहरण उद्‌धृत किये जाते हैं—

केशव

भौंहैं सुर चाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूषण जराए ज्योति तड़ित रजाई है।
दूर करी सुख मुख सुखमा शशी की, नैन,
अमल कमल दल दलित निकाई है।
केशौदास प्रवल करेणु काग मनहर,
मुकत सु हंसक सवद सुखदाई है।
अंवर वलित मति मोहै नीलकंठ जू की,
कलिका की वरषा हरषि हिए आई है।

—कवि प्रिया (वर्षाऋतु वर्णन)

सुन्दर

नँदनंदन ठाड़े हैं द्वार भए तहँ सुंदर मंदिर तें धँसि कै।
निकसी वृषभानु लली जु अली न मिली सु गली में चली हँसि कै।

तवते हरि के दृगतारन माहिं यों राधे को रूप रच्यो वसि कै।
मनौ राख्यो है सोने को रंग अनंग सुनार कसौटिन में कसि कै।

(चेष्टारीति)

सोरा सों सँवारि के गुलाव माहिं ओरा डारि,
सीतल वयारि हूँ सों वार वार वरिए।
चैन न परत छिनु चंपक ते, चंदन ते,
चंद्रमा ते, चाँदनी ते चौगुनो कै जरिए।
सुंदर उसीर चीर उजरे ते दूनी पीर,
कमल कपूर कोरि एक ठौर करिए।
एते मान विरहागि उठी तव माँझ लागि,
सोइ होत आगि जोइ आगे लाइ धरिए।

(विप्रलंभ लक्षण)

—सुन्दर शृङ्गार

तोप

चंदन अंजन खोइ गयो अरु खोइ गई अधरा की ललाई।
भीजि गई कुछ कंचुकी औ तन में मन में कन की छवि छाई।
तोप लखी पर में ठठकी रन वेगि चलै छतिया धरकाई।
जावति ओर की ओर तुम्हैं मैं वतावति जौन अन्हाइ के आई॥

(विदग्धासखी)

—सुधानिधि

चिंतामणि त्रिपाठी

साँवरो सलोनो नित बड़ी अँखियान कोऊ
होत आभरन आजि जमुना के नीर को।
चिंतामणि कहै गारी दीजै तो हँसत ढीठ,
धजि निकसत छुनि नारिन की भीर कौ।
मैं तो आजु जानी अब लौं न हौं वै जानत ही,
करतु अनीति जैसी छोहरा अहीर कौ।
पनिघट रोकत कन्हैया याको नाम दैया,
खोटो है निपट छोटो भैया बलवीर कौ।
(प्रसादगुण का उदाहरण)

—कविकुल कल्पतरु

मतिराम त्रिपाठी

वार कितेक सहेलिन के कहे कैसहूँ लेत न वोरी सँवारी।
राखत रोकि कहै मतिराम चले अँसुवा अँखियान ते भारी।
प्रान पियारो चल्यो जब ते तब ते कछु और ही रीति तिहारी।
पीर जनावति अंगनि में कहि पीर जनावति काहु न प्यारी॥
(प्रोषित पतिका)

—रसराज

देव

परी अवै इत है निकस्यो विकस्यौ मुख ओज सरोज हँसो है।
माधुरी वानि सुधा मुसकानि में रूप कलानि कलानिधि सो है।

तोरत सो अँग मोरत भौंहन जो हनि मैं हित जोरत जो है।
तावरी आवै चितौनि चितै चित देव सो सुंदर साँवरो को है?

प्रेमगुन बाँधि चित चंग सो चढ़ायो जव,
सुनि सुनि वंसी धुनि चंग मुहचंग की।
मधुर मृदंग सुर उरझि उतंग भई,
रंग परवीन ऐसी बाजनि अभंग की।
वधिक विहँग वधू व्याधि ज्यों कुरंगनारि,
हनी है कुरंग नैनी पारधी न अंग की।
सङ्ग सङ्ग डोलत सखीन के उमंग भरी,
अङ्ग अङ्ग उठत तरंग स्यामरंग की॥

(पूर्वानुराग वर्णन)
—प्रेम चन्द्रिका

पीछे तिरीछे कटाछिन सों इतवै चितवैं री लला ललचो हैं।
चौगुनो चैन चवाइनि के चित चाइ चढ़े हैं चवाइ मचो हैं।
जौबन आयो न पाप लग्यो कवि देव कहैं गुरु लोग रिसो हैं।
जीमै लजैये औ जैये जितैं तितैं पैये कलंक चितैये जो सोहैं॥

(नायिका वर्णन)
—रसविलास

भिखारीदास

पै विनु पनिच विनु करकी कसीस विनु,
चलत इसारे यह जिनको प्रमान है।

आँखिन अड़त आइ उर में गड़त धाइ,

परत न देखे पीर करत अमान है।

वंक अवलोकन के वान औरई विधान,

कज्जल कलित जामै राहर समान है॥

तासौं वरवस वेध मेरे चित चंचल को,

भामिनी चै भौंह कैसी कहरु कमान है॥

(विलास हाव का उदाहरण)

—रस सारांश

शृंगार तथा अलंकारकाल

सूरतुलसीकाल की कविता में भक्ति तथा शांतरस का प्राधान्य था। कवि लोग वत्सल, सखी, या दासभाव से राम और कृष्ण का गुण-गान करते थे। सख्यभाव वाले कवि कभी कभी प्रायः शृंगार का भी अच्छा वर्णन करते थे। पर वे स्वयं निर्विकार रहते थे। वह शृंगार लौकिक न था, और जो था वह भी गौण रूप से भक्ति को ही पुष्ट करता था। पर आगे चलकर यह बात न रह सकी। सूर के अनुकरण करनेवाले बहुत हुए, पर उनका शृंगार धीरे-धीरे लौकिक हो चला और भक्ति इसमें से पूर्णतः बहिष्कृत कर दी गई, यहाँ तक कि कविता में शृंगार ही शृंगार दिखाई देने लगा। प्रकृति-वर्णन अथवा षड्ऋतुवर्णन आदि जो होते थे वह भी शृंगार

अलंकृतकालीन कविता का राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण

के स्थायी भाव रति को ही उद्दीप्त करने के लिए हिन्दी कविता में 'नख' से 'सिख' तक सर्वाङ्गसुन्दर 'नायिका' ने प्रवेश किया और छोटे से लेकर बड़े से बड़े कवियों तक सभों का ध्यान इधर ही मानो किसी मन्त्रशक्ति से खिंच गया। सैकड़ों 'प्रकार' की नायिकाओं की मानसिक सृष्टि की गई और उनके साथ समय विताने के 'प्रोग्राम' भी महाकवियों ने वनाये। इस प्रवृत्ति का कारण जनसमुदाय की चित्तवृत्ति नहीं; वल्कि कवियों के आश्रयदाताओं (Patrous) की चित्तवृत्ति ही कही जा सकती है। उस समय, अर्थात् अकवर के समय से लेकर औरङ्ज़ेव के अन्तिम दिनों तक, प्रायः डेढ़ सौ वर्ष तक हिन्दुस्तान में एक प्रकार पूर्णरूप से शान्ति थी; और इसी समय के अन्दर ही अन्दर प्रायः सभी शृंगारी और अलंकारी कवियों का रचनाकाल था। उस समय आश्रयदाताओं को जो कि अधिकतर राजे-महाराजे, अमीर-उमराव, या नवाव लोग होते थे—शांति के कारण भोगविलास छोड़ और कोई काम न रह गया था। कवियों ने अर्थलोलुपतावश किसी न किसी 'रसिक' नरेश का आश्रय लिया और उसकी प्रशंसा तथा उसकी कामप्रवृत्तियों को भड़काने के लिए असंख्य प्रकारों की नायिकाओं के भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंग, भाव-भंगी, वेशभूषा, नाज़ो-अन्दाज़, गतिविधि आदि के पर्यवेक्षण में ही अपनी प्रतिभा का मनमाना दुरुपयोग किया। प्रचण्ड गर्मी और तीक्ष्ण शीतकाल के असह्य दिनों को आनन्दपूर्वक विताने के

लिये 'नुसख़े' भी इन कवियों ने लिख डाले। भूले ही भटके कोई मङ्गलाचरण आदि के अवसर पर दो-चार कवित्त परमात्मा के नाम पर बना देता था।

कला की दृष्टि से अलंकृतकालीन कविता की उत्कृष्टता

पर इन सब बातों के होते हुए भी विशुद्ध कला तथा भाषा आदि की दृष्टि से हिन्दी कविता इस समय अवश्य सौरतुलसीकाल की कविता से भी बहुत उच्चकोटि की हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि राजाओं के यहाँ मानप्रतिष्ठा स्वभावतः उसी को मिल सकती थी जिसकी कविता औरों से अच्छी हो, पर कवि और 'कविराय' इस समय बहुत हो चले थे। अतः उनमें एक प्रकार की प्रतियोगिता का बड़ा प्रबल भाव उत्पन्न हुआ। लोग कविता को यथाशक्ति निर्दोष, अलंकृत और चमत्कृत रचने की चेष्टा करने लगे।

अलंकृतकाल की कविता का आरंभ

सबसे पहले सं० १५९८ में कृपाराम ने इस विषय पर लेखनी उठाई। उन्होंने रस का कुछ थोड़ा बहुत निरूपण किया था। इनके बाद १६१५ में गोप कवि ने सब से पहले अलंकारों के ऊपर कुछ लिखा और "राम-भूषण" और "अलंकार-चन्द्रिका" नाम की दो पुस्तकें लिखीं। इनके बाद अकबरी दरबार के नरहरि और करन

कवि ने अलंकारसंबंधी कुछ ग्रंथ लिखे। पर सब से प्रथम काव्य के सब अंगों का शास्त्रीय पद्धति से निरूपण केशवदास ने किया। कहने की आवश्यकता नहीं, इन सभी कवियों ने संस्कृत के अलंकार ग्रंथों की सहायता ली और उन्हीं के विचारों को अपनी भाषा में प्रकट किया। संस्कृत के आचार्यों में जैसे किसी ने गुण को प्रधान माना, किसी ने रस को, किसी ने चमत्कार को, तथा किसी ने ध्वनि को, उसी प्रकार हिन्दी के कवियों ने भी। क्रम भी वही रहा जैसा संस्कृत में। संस्कृत की भाँति हिन्दी में भी पहले के आचार्यों ने रुय्यक और दंडी के अनुसार गुणों को काव्य की आत्मा माना और फिर क्रमशः चमत्कार रस, व्यंग और ध्वनि का प्राधान्य हुआ।

अलंकृतकाल की कविता का विकास

केशव के प्रायः पचास वर्ष बाद से अलंकारी कवियों की अखंडित परम्परा सी स्थापित हो गई और फिर अलंकार-ग्रन्थ लिखने का ऐसा व्यसन कवियों को हो गया कि सबके सब लक्षण-ग्रंथ लिखने लगे और लक्ष्य ग्रंथ लिखने की परिपाटी ही लुप्तप्राय हो गई। सभों को आचार्य बनने की धुन सवार थी। इस व्यसन से हिन्दी-साहित्य के विकास में बड़ी बाधा पहुँची। प्रकृति तथा मानवजीवन की अनेक रूपता तथा उनका सामंजस्य, जीवन के भिन्न-भिन्न रहस्यों तथा प्रश्नों की ओर कवियों का ध्यान न जाने पाया। इन कवियों

के पास हमारे लिए कोई संदेश नहीं है, इनको मनुष्य-जीवन के जटिल प्रश्नों तथा मानव-हृदय की विचित्रताओं पर कुछ कहना नहीं है। इनका विचार-क्षेत्र बहुत परिमित हो गया और इसके साथ ही साथ साहित्य-क्षेत्र भी सीमाबद्ध हो गया। ये लोग अपनी रचना में अपने व्यक्तित्व की छाप लगाने से भी वंचित हो गए। इनकी रचनाएँ इस योग्य नहीं हुई कि उनमें गंभीर साहित्यिक समालोचना के योग्य उचित सामग्री मिल सके। अधिक से अधिक समालोचक कुछ बाहरी बातों, जैसे शैली, पद-लालित्य, पद-योजना, अलंकार-विधान आदि पर ही विचार कर सकता है।

हिन्दी के आचार्यों की न्यूनताएँ

इन बातों के अतिरिक्त इन कवियों के अलंकारग्रन्थ इस योग्य भी न हुए कि हम उन्हें यथार्थ में आचार्य कह सकें। आचार्यत्व के लिये जिस गंभीर गवेषणा और पर्यालोचन-शक्ति का होना अनिवार्य है, उसका इनमें नितान्त अभाव है। संस्कृत का कवि-समुदाय दो भागों में विभक्त हो गया था। एक केवल लक्षणग्रंथ लिखते थे, दूसरे लक्ष्य ग्रंथ। लक्षणग्रंथ लिखनेवाले मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्य थे, कवि नहीं थे। ये लोग काव्य के विभिन्न अंगों का विस्तृत विवेचन, अपने सिद्धांतों का तर्क-

द्वारा प्रतिपादन, तथा प्रतिकूल सिद्धांतों का सप्रमाण खंडन आदि बड़ी गवेषणापूर्ण रीति से करते थे। स्वयं कविता करने में प्रायः प्रवृत्त न होते थे। अपवाद के तौर पर कुछ इने-गिने ही संस्कृत-कवि ऐसे मिलते हैं जिन्होंने लक्षणग्रंथ लिखने के साथ ही काव्यरचना भी की है। पर हिंदी के आचार्य कहलानेवाले कवियों में ये बातें नहीं हैं। कुछ विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन कवियों का वास्तविक उद्देश्य कविता करना ही था न कि साहित्य के विभिन्न अंगों का शास्त्रोक्त रीति से विशद विवेचन। क्योंकि ये लोग एक दोहे में कुछ थोड़ा-बहुत लक्षण या परिभाषा देकर कविता करने लग जाते थे। इनके दोहों में पर्याप्तरूप से लक्षणों का सन्निवेश नहीं हो पाता था। बहुत सी आवश्यक बात रह जाती थी और ये बहुधा ऊटपटाँग बातें और भ्रमात्मक लक्षण भी लिख डालते थे। बात यह थी इन लोगों ने 'कुवलयानंद' और 'चंद्रालोक' को ही अधिकतर अपना आदर्श बनाया। उक्त ग्रंथों में लक्षण और उदाहरण एक ही छंद में आ गए हैं। इन लोगों को भी पद्य में ही लक्षण लिखने की धुन सवार थी क्योंकि ये कवि और आचार्य दोनों ही बनना चाहते थे; परन्तु पद्य में किसी विषय की तार्किक व्याख्या अथवा विशद विवेचन, खंडन-मंडन तथा सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि एक प्रकार से असंभव सा है।

इसके अतिरिक्त हिंदी के आलंकारिक कवियों ने काव्य के अन्य अङ्गों को छुआ तक नहीं। दृश्यकाव्य अथवा नाटक के ऊपर तो किसी ने कुछ कहा ही नहीं। संस्कृत के आचार्य दृश्य-काव्य को काव्य का प्रधान अंग मानते थे और पहले आचार्य भरत का ग्रंथ 'नाट्य-शास्त्र' दृश्यकाव्य से ही संबंध रखता है। पर इसका एक कारण हो सकता है कि हिंदी में अभी दृश्यकाव्य लिखने की परिपाटी ही नहीं चली थी तो दृश्यकाव्य पर लक्षणग्रंथ कहाँ से आते। पर इस विषय में भी कुछ विद्वानों का मत है कि यह आवश्यक नहीं कि लक्षणग्रंथ लक्ष्यग्रंथ के बाद ही लिखा जाय। प्रमाण में वे भरत के नाट्यशास्त्र का ही उल्लेख करते हैं, जो कालिदास, भास आदि सभी नाटककारों के उत्पन्न होने से पहले लिखा गया था। पर यहाँ इन विषयों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। नाटक के विषय के अतिरिक्त 'शब्दशक्ति' पर भी दो ही चार कवियों ने नाममात्र को प्रकाश डाला है।

हिन्दी-अलंकार-साहित्य की अपूर्णता

एक बात में अवश्य हिंदी के अलङ्कारी कवि संस्कृत के आचार्यों का कुछ मुकाबला कर सकें। इन्होंने रसों और अलंकारों के उदाहरण बहुत अच्छे और बहुत बड़ी संख्या में दिये। विशेषतः शृंगार रससंबंधी उदा-हरण तो संस्कृत को छोड़ शायद संसार के किसी भी

अलंकारी कवियों के उदाहरण

साहित्य में इतने सुन्दर, हृदयग्राही और इतने प्रचुर परिमाण में न मिलेंगे। इनके सभी अलंकारग्रंथों में शृंगाररस का निरूपण तथा उसी प्रसंग में नायिकाभेदवर्णन बहुत विस्तार से होता है, क्योंकि नायिका शृंगार के स्थायीभाव—रति—का आलंबन विभाव है, अतः इसका सविस्तर वर्णन आवश्यक हो जाता है, और इसी रति के उद्दीपन विभाग के प्रसंग में प्रकृतिशोभावर्णन और षट्ऋतुवर्णन आ जाता है, और फिर विप्रलंभ शृंगार के निरूपण करने के प्रसंग में 'बारहमासा' लिखने की परिपाटी चल पड़ी। इनके वियोगवर्णन में एक बात और मार्के की यह है कि इन कवियों को नायक के वियोग में नायिकाओं को ही तड़पाने में अपूर्व आनन्द आता है, वियोग में नायक को दुःख पाते हुए हम बहुत कम पाते हैं।

षट्ऋतु और बारहमासा

शृंगार के अतिरिक्त यदि किसी और रस पर हिन्दी में ध्यान दिया गया है तो वह वीररस पर। भूषण के अतिरिक्त दो एक और कवियों ने भी वीररस के अच्छे चित्र खींचे हैं। पर इनके अतिरिक्त और रसों के बारे में तो पूरी बेगार टाली गई है।

अलंकृतकाल में वीर रस

छन्दों में इन कवियों ने एक मत से कवित्त और सवैये चुने। कवित्त ज़रा पढ़ने के ढंग को बदल देने से वीर और शृंगार

दोनों के लिए उपयुक्त हो जाता है और सवैया शृंगार और करुण के लिए हृदयग्राही सिद्ध हुआ। इस समय और सब छंद फीके पड़ गए थे। इस काल के कवियों में बिहारी ही एक ऐसे हुए जिन्होंने अपनी रचना के लिए दोहे को ही पसंद किया। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि आचार्यगण या लक्षणलेखकगण अलंकारों और गुणों आदि की परिभाषा के लिए तो दोहा ही पसंद करते थे, पर कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि छन्दों की छटा उदाहरणों में दिखलाते थे। कुछ कवि कहीं कहीं ज़ायक़ा बदलने के तौर पर मन बदलने के लिए 'मनहरण' और भुजंगप्रयात आदि की छटा भी दिखलाते थे, पर साम्राज्य इस ज़माने में सवैयों और कवित्तों का ही था। परन्तु प्रथम आचार्य केशव ने तो भाँति-भाँति के बहुसंख्यक छन्दों की बहार ऐसी दिखलाई है कि जी ऊब जाता है।

अलंकृतकालीन कविता के छंद

भाषा तो विशेषतः ब्रजभाषा ही काम में लाई जाती थी, पर शुद्ध ब्रजभाषा लिखनेवाले घनानन्द और रसखान ऐसे दो ही चार मिलेंगे। हिन्दी साहित्यिक कवि बहुधा अवधी और ब्रज भाषा की खिचड़ी बना डालते थे, कोई नियम नहीं था। इस अलंकृतकाल में व्याकरण से शृंखलित एक सर्वसम्मत साहित्यिक भाषा का सुसंस्कृत रूप तैयार हो जाना स्वाभाविक था, पर ऐसा न हुआ। इसका कारण यही प्रतीत

भाषा

होता है कि आगे चलकर खड़ी बोली को साहित्यिक भाषा बनना था और अवधी या व्रजभाषा दो में से एक भी सर्वसम्मतरूप से साहित्यिक भाषा होने योग्य नहीं थी। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि कवियों का ध्यान साहित्यिक उन्नति की ओर उतना नहीं था जितना आश्रय-दाताओं को प्रसन्न करने और आचार्य बनने की ओर। इसी कारण भाषा और व्याकरण के सम्बन्ध में काफ़ी यथेच्छाचार होता रहा। शब्दों की तोड़-मरोड़ तथा कारकचिह्नों का मनमाना प्रयोग भी बन्द नहीं हुआ, पर ये बातें पहले की अपेक्षा बहुत कुछ कम अवश्य हो गई थीं।

इस काल की काव्य-भाषा पर विदेशी भाषाओं का प्रभाव

एक और नई बात इस समय की कविता में यह हुई कि दर्बारों में अर्बी-फ़ारसी के शायरों के सम्पर्क से इसमें उक्त दोनों भाषाओं के शब्द और कहीं-कहीं उनकी कविताओं का रंग भी चढ़ने लगा। किसी-किसी कवि ने तो इन भाषाओं के शब्दों में अपने यहाँ के विभक्ति-चिह्न आदि लगा कर शब्दों को भद्दा बना दिया है; पर किसी किसी कवि ने इनके विरहवर्णन के ढंग को और मुहावरे को बड़ी बुद्धिमानी से अपनाया है, जैसे बिहारी ने।

अलंकृतकविता के संबन्ध में हमको अधिक कुछ नहीं कहना है। अब केवल इस समय के प्रतिनिधिस्वरूप प्रधान

प्रधान कवियों के परिचय और कहीं-कहीं इनके संबंध की प्रसंगानुसार कुछ आवश्यक सूचनाएँ दे दी जायँगी। इस समय कवियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी और उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी।

(१) केशव सं० १६१२–७४

महाकवि केशवदास, और सूर, तुलसी तथा सम्राट् अकबर के समकालीन और जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका संबंध कई पीढ़ी से ओरछा दरबार से रहा है। इनके पिता काशीनाथ और पितामह कृष्णदत्त आदि इनके पूर्वज संस्कृत के धुरंधर विद्वान् और लेखक थे। संस्कृत का पठन-पाठन इनके कुल में इतनी अधिकता से होता था कि कहा जाता है कि इनके घराने के नौकर-चाकर भी संस्कृत में बातचीत किया करते थे। इन्होंने कविप्रिया में स्वयं ऐसा कहा है:—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुलके दास।
ताही कुल में मंद कवि, उपज्यो केशवदास॥

इससे पता चलता है कि उस समय तक के संस्कृत के विद्वान् 'भाषा' में ग्रंथ-रचना करनेवालों का उपहास किया करते थे और उनके कार्य का उन विद्वानों की दृष्टि में कोई महत्त्व न था। ऐसी परिस्थिति में केशव का हिन्दी में साहित्य-सेवा करना एक प्रकार से साहस ही कहा जा सकता है। पर जो हो, उन्होंने किसी बात की परवाह न कर अपने

ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे। पर इसमें शायद उनके आश्रयदाता तत्कालीन ओरछा-नरेश महाराज इन्द्रजीत का आग्रह भी एक कारण था। वे हिंदी-कविता के बड़े प्रेमी और लेखक थे और केशव उनके बचपन के सखा थे। उन्होंने अवश्य ही अपने विद्वान् और पंडित मित्र से हिंदी में कुछ लिखने का आग्रह किया होगा। इसका प्रमाण भी इनकी रसिकप्रिया के एक दोहे में मिलता है, जो इन्होंने सं० १६४८ में पूरी की थी। वह दोहा यों है :—

> तिन कवि केशवदास सों, कीन्हों परम-सनेहु।
> सब सुख दै कै यह कही, 'रसिक प्रिया' करि देहु॥

इस दोहे में 'तिन' शब्द इन्द्रजीत के लिए ही आया है। इसके बाद इन्होंने कई ग्रन्थ रचे जिनमें ये मुख्य हैं—कविप्रिया, रामचन्द्रिका, विज्ञानगीता, रतनबावनी, जहाँगीर-चन्द्रिका, और वीरसिंहदेव-चरित। इनमें अलंकार तथा रीतिग्रन्थ रसिकप्रिया और कविप्रिया यही दो हैं। ये काव्य में अलंकार और चमत्कार को ही प्रधान माननेवाले आचार्य थे, और इस दृष्टि से इन्हें रुय्यक और दंडी के अनुयायी मानना चाहिए जो संस्कृत के प्रथम चमत्कार-वादी आचार्य थे।

इनकी कविता की भाषा मुख्यतः ब्रजभाषा है पर उसमें स्वभावतः संस्कृत का पुट अधिक है। संस्कृत साहित्य के गंभीर विद्वान् होने के कारण इनकी कविता में संस्कृत के बड़े

बड़े कवियों के भावों की छाया-अपहरण प्रायः देखने में आता है। दूसरी विशेषता इनकी कविता की विविध प्रकार के छंदों की भरमार और भाषा तथा भावों की कठिनता है। काव्य में पाण्डित्य-प्रदर्शन का इन्हें रोग सा था, इससे इनकी कविता प्रायः प्रसादगुण-रहित और दुरूह हो जाया करती थी। इसी से यह कहावत प्रसिद्ध है—"कवि को दीन न चहै बिदाई, तो पूछे केशव की कविताई।" पर तो भी इनके काव्य में प्रायः इनकी सरसता और कहीं इनकी विनोद-प्रियता का भी परिचय मिलता है।

(२) चिंतामणि त्रिपाठी सं० १६६६-१७०७

इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का पता चला है—

१—छंदविचार, २—कविकुल-कल्पतरु, ३—काव्यप्रकाश, ४—काव्य-विवेक, ५—रामायण। ये महाकवि भूषण के बड़े भाई माने गए हैं, पर निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

(३) महाराज जसवंतसिंह—रचनाकाल सं० १६५९, मृत्यु सं० १७३८

इनका 'भाषाभूषण' नामक ग्रंथ 'चन्द्रालोक' के ढंग पर लिखा गया है और यही एक ऐसे महाशय थे जो यथार्थ में आचार्यरूप से साहित्यक्षेत्र में आए, कविरूप से नहीं। इनका

ग्रंथ पाठ्य-पुस्तक की भाँति पढ़ा जाता है, क्योंकि एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों आ जाते हैं। केशव के उपरान्त इन्हीं का नाम अलंकार के सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। ज्ञान-तत्त्व पर इनके और कई ग्रंथ मिलते हैं।

(४) विहारी सं० १६६०–१७२७

महाकवि विहारी का स्थान केवल कला की दृष्टि से शायद हिंदी-साहित्य में सब से ऊँचा है। इनका एकमात्र ग्रंथ है इनकी सतसई। यह कोई अलङ्कारग्रंथ नहीं है। बलिक प्रायः सात सौ फुटकर दोहों का एक संग्रह है। प्रत्येक दोहा एक सजीव चित्र है और अलंकारों की छटा भी हर एक दोहे में ऐसी है कि प्रत्येक दोहा किसी न किसी अलंकार का उदाहरण सा प्रतीत होता है। रस, भाव, व्यञ्जना, ध्वनि, पद-लालित्य, चमत्कार, आदि की दृष्टि से यह सतसई हिंदी-साहित्य का अनुपम रत्न है। रस इसमें शृङ्गार ही प्रधान है।

इसकी टीकाएँ इतनी बनीं की विहारी का एक अलग साहित्य ही उत्पन्न हो गया। इसी एक ग्रंथ के कारण विहारी काव्य-कला की दृष्टि से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। सत-सई का एक अच्छा संस्करण कुछ दिन हुए 'रत्नाकर'जी ने निकाला है। यह टीका भी उत्तम हुई है। 'विहारी सतसई' की जितनी टीकाएँ हुईं उतनी हिंदी के किसी और ग्रंथ की नहीं,

संसार की अन्य भाषाओं के किसी भी एक ग्रंथ की इतनी टीकाएँ हुई होंगी यह भी कहना कठिन है। 'रत्नाकरजी' के पहले विहारी की अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीका पं० पद्मसिंह शर्मा "संजीवन भाष्य' के नाम से कर चुके थे। टीकाकार, और समालोचक दोनों ही की हैसियत से जो गंभीर विचार शर्माजी ने प्रकट किया हैं वह अनुपम है। इस टीका की मुख्य विशेषता है इसका तुलनात्मक दृष्टिकोण। विहारी के से मिलते-जुलते संस्कृत, फ़ारसी, और उर्दू कविता के भाव जितने मिल सकते हैं सभी शर्माजी ने भरसक एकत्र कर दिए हैं। हिन्दी के अन्य कवियों की कविता से भी शर्माजी ने विहारी के दोहों की ख़ूब टक्कर लड़ाई है। इस प्रकार के कवियों की तुलनात्मक समालोचना की एक परिपाटी सी चल पड़ी और अन्य विद्वानों ने भी विहारी पर इसी ढंग से विचार करना आरंभ किया और तुलना के लिए महाकवि देव को घसीटा। इन दोनों महाकवियों को लेकर समालोचकों में एक दंगल सा शुरू हो गया जो अभी तक पूर्णतया शांत न हो सका है। लाला भगवानदीनजी और पं० कृष्णविहारी मिश्र के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेख्य हैं।

(५) भूषण सं० १६७०–१७७२

महाकवि भूषणजी वीररस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इन्होंने छत्रपति शिवाजी की प्रशंसा में 'शिवराज भूषण'

और 'शिवाबावनी' तथा महाराज छत्रसाल की प्रशंसा में 'छत्रसाल दशक' लिखा है। हिंदी-कवियों में इन्हें ही सबसे अधिक धन और मान लाभ हुआ। उक्त तीन ही ग्रंथ इनके मिलते हैं, इनमें शिवराज-भूषण अलंकार ग्रंथ है, पर अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत उत्तम नहीं है। लक्षणों की भाषा और उदाहरण प्रायः असंगत हैं। इनके बहुत से फुटकर कवित्त सवैये भी मिलते हैं। भाषा इनकी व्रजभाषा है और इनकी कविता का मुख्य गुण ओज है। वीररस का उद्रेक इनके छंद पढ़ते ही होता है।

(६) मतिराम—जन्म सं० १६७४ रचनाकाल १७००—४५ (मृत्युसंवत् अनिश्चित है)

ये महाकवि भूषण के भाई माने जाते हैं। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—(१) छंद-सार, (२) रस-राज, (३) ललित-ललाम। अन्तिम दोनों बहुत प्रसिद्ध हैं और अपने विषय के अनुपम ग्रंथ हैं। उदाहरणों की सरसता और रमणीयतामें पद्माकर को छोड़ रीतिकाल का कोई कवि मतिराम की समता को नहीं पहुँचता। भाषा इनकी सुन्दर, शब्दाडंबर से रहित, तथा भाव स्वाभाविक हैं। अनुप्रासों का इतना सुन्दर उपयोग हिंदी के कम कवियों ने किया है। इनका एक ग्रंथ 'मतिराम सतसई' अभी खोज में मिला है जो 'विहारी

सतसई' के ही समान समझा जाता है। इनके सवैये बहुत ही अच्छे होते थे।

(७) निवाज—सं० १७३७ के लगभग वर्तमान थे।

कहा जाता है कि ये तत्कालीन पन्नानरेश महाराज छत्रसाल के राजकवि थे। इनका एकमात्र प्रसिद्ध ग्रंथ गद्य-पद्य-मय शकुंतला नाटक है। पर इनके फुटकर छंद बहुत मिलते हैं। यह भी एक उच्चकोटि के शृङ्गारी कवि हो गए हैं और भाषा बहुत परिमार्जित, गठी हुई और भावपूर्ण लिखते थे। इनके शृङ्गार-वर्णन में कहीं-कहीं अश्लीलता या कुरुचि का भी परिचय मिलता है।

(८) देव (देवदत्त)—जन्म सं० १७३०

हिन्दी के महाकवियों में देव का स्थान भी बहुत ऊँचा है। इनके ५२ या ७२ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें २६ मिलते हैं, उनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध ये हैं—(१) भावविलास, (२) अष्टयाम, (३) सुजान विनोद, (४) जातिविलास, (५) प्रेम-चंद्रिका, (६) देव-माया-प्रपंच नाटक। रीति-काल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में देव भी एक हैं, कोई-कोई तो इन्हें बिहारी से भी उच्चस्थान देते हैं। अलंकार-शास्त्र में इन्होंने 'छल' नामक एक चौंतीसवाँ संचारीभाव तथा "तात्पर्यवृत्ति" नामक एक चौथी शब्दशक्ति की नवीन सृष्टि की है। पर वास्तव में ध्यान देने

से मालूम हो जाता है कि इनमें केवल नाम ही भर की नवीनता है। देव का ध्यान मौलिकता की ओर अधिक था। प्रसिद्ध विद्वान् मिश्रबन्धु सूर और तुलसी के बाद हिन्दी-कविता में देव को ही सर्वोच्च मानते हैं। पर वास्तव में कवियों की एक दूसरे से तुलना करने और किसी काल्पनिक श्रेणी-विभाग से इनके निम्न और उच्च स्थान निश्चित करने के अनुचित प्रयास में हम बहुधा कवियों के साथ अन्याय कर बैठते हैं और फिर लोकप्रिय महाकवियों के साथ ऐसा करना अन्याय ही नहीं बल्कि पाप हो जाता है। किन्हीं भी दो कवियों के विचारक्षेत्र, उनके कविता के उद्देश्य, उनकी कविता के विषय, उनके साहित्यिक कार्यकलाप के वातावरण इस प्रकार समान नहीं हो सकते कि हम उन दोनों को एक ही तराजू पर रखकर उनकी गुरुता या लघुता का सच्चा निर्णय कर सकें। समालोच्य कवि के मानसिक और साहित्यिक विकास का स्वतंत्र रूप से अनुशीलन करना ही वांछनीय होता है।

प्रसंगवश यहाँ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मेरे उक्त कथन से यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि मैं तुलनात्मक समालोचना का विरोधी हूँ। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सत्साहित्य की सर्वांगसुन्दर उन्नति के लिए मैं तुलनात्मक समालोचना को बहुत आवश्यक समझता हूँ। पर शर्त यह कि वह वास्तव में तुलनात्मक समालोचना हो। खेद के साथ कहना पड़ता है कि तुलनात्मक समालोचना का हिन्दी-साहित्य

में अभी पूर्णरूप से अभाव सा है। अमुक कवि अमुक कवि से बड़ा है या छोटा, अमुक का छंद अमुक के छंद से अच्छा है या बुरा, या अमुक ने अमुक का भावापहरण किया है, अमुक की सूझ अमुक से ऊँची या नीची है, या अमुक की प्रतिभा अमुक से प्रखर है, या ऐसी ही और ढंग की तुलना को तुलनात्मक समालोचना कहना ज़बर्दस्ती है। इसे कवियों का अपमान कहना अधिक उपयुक्त होगा। मेरे मत में तुलनात्मक समालोचना वास्तव में क्या है इस विषय में उचित स्थान पर अपने विचार प्रकट करूँगा।

(९) दास (भिखारीदास) कविताकाल (१७८५-१८०६)

इनके निम्नलिखित ग्रन्थ मिलते हैं—

१—रस सारांश, २—छंदार्णव पिंगल, ३—काव्यनिर्णय, ४—शृंगार निर्णय, ५—नाम प्रकाश (कोश)। दासजी का स्थान हिन्दी-साहित्य में भिन्न-भिन्न काव्यांगों के निरूपण के सम्बन्ध में सर्वप्रधान है। ये प्रतापगढ़ के पास किसी गाँव के रहनेवाले जाति के कायस्थ थे। दासजी ने काव्यकलाक्षेत्र में अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक काम किया है। काव्य के सभी विभिन्न अंगों जैसे छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष तथा शब्दशक्ति आदि का विशद और विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य श्रीपति का इनपर बहुत प्रभाव पड़ा हुआ जान पड़ता है।

(१०) श्रीपति-रचनाकाल सं० १७७७ के लगभग

इनके निम्नलिखित ग्रन्थ मिलते हैं—

१—काव्यसरोज, २—कविकल्पद्रुम, ३—रससागर, ४—सरोजकलिका, ५—अनुप्रासविनोद, ६—विक्रमविलास, ७—अलंकारगंगा। इन्होंने जिस स्पष्ट रीति से काव्य के प्रायः सभी अंगों का विशद विवेचन किया है उससे इनकी विद्वत्ता का पता चलता है।

(११) पद्माकर (भट्ट) सं० १८१०–९०

रीतिकाल के सर्वप्रसिद्ध और सबसे अधिक लोकप्रिय महाकवि पद्माकर जाति के तैलंग ब्राह्मण थे और इनका जन्म सं० १८१० में सागर में हुआ था। ये कई आश्रयदाताओं की छाया में रहे जिनमें मुख्य जयपुरनरेश महाराज जगतसिंहजी थे। जिनकी छत्रछाया में अपना सर्वप्रसिद्ध रीतिग्रंथ जगद्विनोद बनाया। इनके अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ ये हैं—

१—हिम्मत बहादुर विरुदावली, २—पद्माभरण, ३—प्रबोधपचासा, ४—रामरसायन, ५—गंगालहरी। श्रृंगारी कवियों में बिहारी को छोड़ पद्माकर किसी से कम नहीं हैं। इनका 'जगद्विनोद' वैसाही प्रसिद्ध और सर्वप्रिय हुआ है जैसा मतिराम का 'रसराम'। वीररस में भी इनकी निपुणता का परिचय इनकी हिम्मत बहादुर विरुदावली से चलता है। ये अलंकृतकाल के अंतिम प्रतिनिधि थे। ये भाषा बड़ी ही

मधुर और सरस लिखते थे। शृंगार के तो यह बादशाह थे।

ऊपर लिखे हुए कवियों के अतिरिक्त बहुत से और कवि रीतिकाल में हो गये हैं, जिनके नाम गिनाना यहाँ पर असंभव है। इनकी विस्तृत तालिका और संक्षिप्त परिचय मिश्रबन्धु-विनोद से प्राप्त हो सकता है।

इस समय के अंतर्गत अर्थात् कबीर के समय से लेकर पद्माकर तक, संत, भक्त, सूफ़ी, शृंगारी तथा अलंकारी कवियों का विचारधारा, भाषा, शैली, छंद, विषय तथा गुण-दोष का एक बहुत संक्षिप्त दिग्गदर्शन ऊपर हो चुका। रीति काल में जिसका आरंभ अकबर के समय से होता है। बहुत से कवि ऐसे हुए जिन्होंने अलंकारविषय पर तो नहीं पर अन्य विषयों पर कुछ कविता की। ऐसे कवियों की संख्या बहुत है, पर उनकी कविता इतनी उच्चकोटि की नहीं हैं। काव्यकला देव और बिहारी के समय में उन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुँच चुकी थी बस उनके बाद ही से उसका अधःपतन आरंभ हो गया था। आगे चलकर विक्रम की १८ वीं शताब्दी के अनंतर उच्चकोटि की कविता करनेवाले बहुत कम दिखाई पड़ने लगे।

कविता की अधोगति

इसका प्रधान कारण यह था कि देशमें अशांति का राज्य फिर हो गया। औरंगज़ेब के समय में राजपूतों और मरहठों ने मुसलमानों से अपनी गई हुई स्वतंत्रता को फिर से प्राप्त करने का सफल

उद्योग किया। दिल्ली के बादशाह की शक्ति नाममात्र को रह गई। देशी राजा प्रधानता के लिए आपस में लड़ने लगे। अंत में मरहठों ने सब पर अपना रंग जमा लिया। ऐसे समय कवियों को कोई आश्रयदाता न मिलता था। राज दर्बारोंमें कवियों की मजलिस अब नहीं बैठती थी, तो बेचारे कविता क्या करते और किसके लिये करते।

राजनीतिक उथल-पुथल

आश्रयदाताओं का अभाव

स्वान्तः सुखाय लिखने की प्रथा लुप्त हुए बहुत दिन बीत चुके थे। कविता में 'नायक-नायिका' तथा 'नखसिख' की बेहद भर-मार देखकर भक्ति बहुत दूर भाग गई थी। तात्पर्य यह कि कवियों को न तो बाहर से प्रोत्साहन देने के लिए आश्रयदाता मिलते थे और अशांति के कारण न उनको आभ्यन्तरिक प्रेरणा (Inspiration) के ही भान होने का अवसर मिलता था। भक्ति को कवि अर्थलोलुप होकर लात मार चुके थे अब किस मुंह से उसका आश्रय लेते। देश-प्रेम की लहर अभी नहीं थी फिर प्रेरणा कहाँ से होती? कुछ लोगों ने कतिपय भिन्न-भिन्न विषयों पर कुछ फुटकर कवितायें कीं। शृङ्गार-प्राधान्य अब भी काव्यक्षेत्र में था; पर अब क्रमशः कम हो रहा था। कवियों के बाद

कवियों की अर्थ-लोलुपता

स्वांतःसुखाय कविता का अन्त

के कविताकाल को (जिसको कोई कोई उत्तरालंकृतकाल या प्रौढ़-मध्यकाल कहते हैं) कविता के विभिन्न विषयों तथा उन पर कविता करनेवालों का निम्नलिखित रीति से वर्गीकरण कर सकते हैं।

कविता का एकमात्र विषय शृङ्गारवर्णन

यह एक स्वयंसिद्ध बात है कि कवितालता को पनपने के लिए एक सुदृढ़ आश्रय की आवश्यकता होती है, और फलतः उस आश्रय के लेस होते ही कविता भी अवश्य ज़मीन पर गिर पड़ेगी। कविता का सबसे प्रबल और साथ ही कविता को अमर करदेनेवाला आश्रय होता है कवि की आभ्यंतरिक प्रेरणा (Inspiration)। इसे दैवी आश्रय कहना चाहिए। इस प्रेरणा से प्रेरित कवि कविता के लिए ही कविता करता है, बस और किसी बात के लिए नहीं। सो इस प्रकार की प्रेरणा से प्रेरित कवि तो इस काल (अलंकृतकाल) में शायद ही कोई रहा हो। कुछ समय की गति ही ऐसी हो चली थी कि क्या छोटे, क्या बड़े सभी कवि किसी न किसी 'देनेवाले' आश्रयदाता की काल्पनिक प्रशंसा में अपनी बची-खुची प्रतिभा का दुरुपयोग करते थे। दूसरा प्रबल आश्रय कवि का हृदयस्थित भक्तिस्रोत और प्रेमस्रोत हुआ करता है। सो वह भी तुलसी, कबीर और जायसी आदि के साथ लुप्त हो गया। अब रह गया धन और लगे हाथ यदि मिल गया तो यश, बस यही दो कविता के प्रेरक रह गए। इनमें

से धन कविता का सबसे दुर्बल और निकृष्ट आश्रय होता है। इसमें प्रेरित कविताकाल के ऊपर कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकती। इसमें उनको, देनेवाले की रुचि को देखकर कविता को गढ़ना और सँवारना तक पड़ता है न कि आभ्यंतरिक प्रेरणा या दैवी प्रेरणा के अनुसार जो कि कविता को सदा के लिए एक सी लोकप्रिय कर सकता है। पर देनेवालों की रुचि तो राजनैतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक विचारों के विकास और परिवर्त्तन के साथ-साथ बदलती रहती है। यही कारण है कि इस काल की कविता के प्रशंसक वर्तमान समय में बहुत कम होते जा रहे हैं। यहाँ तक कि बहुत से विद्वान् इसे देश के सामाजिक और नैतिक पतन का एक अंश तथा कारण समझते हैं और देश के नवयुवको को यथासंभव दूर रहने का उपदेश देते हैं।

अलंकृत काल के कुछ और कवियों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

पद्माकर

दोहा

कै अपनी दुरनीति कै दुवन क्रूरता मानि।
आवे उरमें सोच अति सो शंका पहिचानि॥

('शंका' की परिभाषा)

कवित्त—

मोहि लखि सोवत बिथोरिगो सु बेनी बनी,
तोरिगो हिए को हरा छोरिगो सुगैया को।
कहै पद्माकर त्यों घोरिगो घनेरो दुख,
बोरिगो बिसासी, आज लाजही की नैया को।
अहित अनैसो ऐसो कौन उपहास या तें,
सोचत खरी मैं परी जोवति जुन्हैया को।
बूझैंगे चवैया तब कैहौं कहा दैया इत,
पारिगो को मैया मेरी सेज पै कन्हैया को॥

('शंका' का उदाहरण)

दोहा—

अति डरतें अति नेहतें, जु उठि चालियतु वेग।
ताही सों सब कहत हैं, संचारी आवेग॥

('आवेग' की परिभाषा)

कवित्त—

आई संग आलिन के ननद पठाई नीठ,
सोहत सोहाई सों सई डरी सुपट को।
कहै पद्माकर गँभीर यमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी॥
ताही समय मोहन सु बाँसुरी बजाई, ता में,
मधुर मलार गाई ओर बंसीवट की।

तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की,
घट की न औघट की वाट की न घट की ॥
('आवेग' का उदाहरण)
—जगद्विनोद

जसवंतसिंह

दोहा—

सो प्रतीप उपमेय को, कीजे जव उपमान ।
लोचन से अंवुज वने मुख सो चंद्र वखान ॥
उपमे को उपमान तें, आदर जवै न होय ।
गरव करति मुख को कहा चंदहि नीकै जोइ ॥
अनआदर उपमेय ते, जव पावै उपमान ।
तीछन नैन-कटाच्छ तें, मंद काम के वान ॥
उपमे को उपमान जव, समता लायक नाँहि ।
अति उत्तम दृग मीन से, कहै कौन विधि जाँहि ॥
व्यर्थ होइ उपमान जव, वर्णनीय लखि सार ।
दृग आगे मृग कछु न भे, पंच प्रतीप प्रकार ॥
(पाँच प्रकार के प्रतीपालंकार)
—भाषा-भूषण

भूषण

दोहा—हेतु अनत ही होय जहँ, काज अनत ही होय ।
ताहि असंगति कहत हैं, भूषन सुमति समोय ॥
('असंगति' लक्षण)

कवित्त—

महाराज शिवराज चढ़त तुरंग पर,
ग्रीवा जात नैकरि गनीम अतिवल की।
'भूषन' चलत सरजा की सैन भूमि पर,
छाती दरकत है खरी अखिल खल्ल की॥
कियो दौरि घाव उमरावन अमीरन पै,
गई कटि नाक सिगरेई दिलीदल की।
सूरत जराई कियो दाह पातसाह उर,
स्याही जाय सब पातसाही-मुख झलकी॥
('असंगति' का उदाहरण)

(१) विशुद्ध शृङ्गारी कवि

ये लोग आचार्य वनने का चाव नहीं रखते थे, मौजी थे, रसिक थे और प्रेम के नशे में चूर रहते थे। जब तरंग आई, दो-चार प्रेमसंवंधी सवैये या कवित्त बना डालते थे। कोई इनका निश्चित विषय नहीं था, कभी षट्ऋतु, या वारह मासा की वहार का वर्णन करते, कभी किसी नायिका के नखसिख का चित्रण करते, और कभी अपने प्रेम-संवंधी हृदयोद्गारों को छंदोवद्ध करते।

इस ढंग के कवियों में सर्वश्रेष्ठ 'रसखान' और 'घनानन्द' कहे जा सकते हैं। आलम और ठाकुर भी इन्हीं की भाँति

प्रेमोन्मत्त कवि थे। इन लोगों की कविता बड़ी हृदयग्राही और रमणीय होती थी। कारण यह था कि इन की प्रतिभा की गति स्वच्छन्द थी। शास्त्रीय पद्धति पर अलंकारग्रंथ लिखने के लिये कवियों को प्रायः अपनी प्रतिभा को ऐसे विषयों की ओर बलात् घुमाना पड़ता था जिधर घूमने के लिये वह तैयार नहीं थी। तात्पर्य यह कि इन प्रेमोन्मत्त कवियों के लिये कोई प्रतिबन्ध न था। स्वतन्त्र तबीयत के थे, इसी कारण कभी कभी इनकी लेखनी से बड़े मार्मिक पद निकल जाते थे। इस ढंग के कुछ सर्वश्रेष्ठ कवियों की रचना के दो एक नमूने नीचे दिये जाते हैं।

घनानंद

कवित्त—

मेरो मन चाहै घनआँनद सुज़ान को पै,
टकी लाग आग की लपेटैं जीवही सहै।
वे तो गौं गवेले हौं गहाऊँ सो गहैं न गैल,
रहैं छैल भए नए लेस ताहू कौन है॥
पातनि तकत मूल भूले फिरै फूले वृथा,
आली वनमाली जू के फल ही कहा कहै।
आवरी है बावरी तू तावरी परति काहे,
तैं हां घर बसे ह्यां उजारि बसि को रहै॥

सवैया—

मोहि निहोरि है तू जु घरीक में मेरो निहोरयोई किन मानति।
जासों नहीं ठहरै ठिक मान कौ क्यों हठ कै सब रूठनो ठानति॥
कसी अजान भई है सुजान ह्वै मित्र के प्रेम चरित्र न जानति।
सो मुरली घन आँनद की नित तान भरो कित भौंहनि तानति॥

—सुजान सागर

रसखान

दोहा—

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहनी-मान।
प्रेमदेव की छविहि लखि, भए मियाँ रसखान॥

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं, जान्यो जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जान कै, रहि न जात कुछ सेस॥

प्रेम फाँसि सो फँस मरै, सोई जियै सदाहि।
प्रेम मरम जाने बिना, मरि कोउ जीवत नाहि॥

—प्रेमवाटिका

सवैया—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठौ सिद्धि नवौ निध के सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हू कल-धौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥

—फुटकर

ठाकुर

दस बार बीस बार बरजि दई है नाहि,
एतै पै न मानै तौ जरन बरन देव।
कैसो कहा कीजै, कछू आपनो करो न होय,
जाके जैसे दिन ताहि तैसेई भरन देव॥
ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ,
प्रेम निहसंक रस रंग विहरन देव।
विधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव॥

आलम

दाने की न पानी की, न आवे सुधि खाने की,
याँ गली महबूब की आराम खुस खाना है।
रोज ही से है राजी यार की रजाय बीच,
नाज की नजर तेज तीर का निशाना है॥
सूरत चिराग रोशनाई आशनाई बीच,
बार बार बरै बलि जैसे परवाना है।

दिल से दिलासा दीजै, हाल के न ख्याल हूजै,

वे खुद फकीर वह आशिक दिवाना है ॥

(२) प्रबंध-काव्य लिखनेवाले कवि

यद्यपि प्रबंधकाव्य लिखने की प्रथा प्रायः तुलसी के साथ ही लुप्त हो गई थी, पर इस समय कुछ कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने प्रबंध-काव्य लिखे, पर कविता की दृष्टि से इस समय के प्रबंध-काव्य अच्छे नहीं हुए। कुछ ऐसे हैं जिनकी तुलना, शैली और विषय की दृष्टि से आदिकाल—भट्ट काव्य (Bardic Poetry) से हो सकती है, जैसे—

ग्रन्थ	रचयिता
जंगनामा	श्रीधर
हम्मीरहठ	चंद्रशेखर
सुजानचरित्र	सूदन
हिम्मतबहादुर विरुदावली	पद्माकर
हम्मीररासौ	जोधराज
छत्रप्रकाश	गोरेलाल ('लाल' कवि)

कुछ ग्रन्थ पौराणिक विषयों पर भी हैं जैसे—

महाभारत	सबलसिंह (यह दोहा-चौपाई में अवधी में रामायण के ढंग पर लिखा गया है।)

ग्रन्थ	रचयिता
जैमिनी पुराण	सरयू राम
महाभारत	गोकुलनाथ
व्रजविलास	व्रजवासीदास
रामाश्वमेध	सूदनदास
भाषा भागवत	कृष्णदास
चंडी चरित्र	गुरु गोविंदसिंह

कुछ विविध विषयों पर हैं, जैसे—

वैताल पचीसी	देवीदत्त
हरनारायण	माधवानल कामकेदला
नैषध चरित्र	गुमानी मिश्र
विजय मुक्तावली	छत्रसिंह

इनमें सूदन का "सुजान चरित्र" वीररस प्रधान एक उत्तम प्रवन्ध काव्य है। "रामाश्वमेध में भी रसात्मकता बहुत है।

(२)
नीति और उपदेश लिखनेवाले कवि

कुछ कवि ऐसे भी इस समय हुए जो कि केवल मनुष्य-जीवन के उपयोगी तथ्यों का निरूपण करते हैं। इनकी कविता साहित्य-कोटि में स्थान पाने योग्य चाहे न हो; पर कहीं कहीं चमत्कृत अवश्य है। इनमें सब से प्रधान रहीम ख़ानख़ाना थे, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका। इनके उपरान्त गिरिधर, वृंद, घाघ, वैताल विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। 'गिरिधर' की

'कुंडलियाँ' और वृन्द की 'सतसई' बहुत प्रसिद्ध हैं। किस प्रकार रहने से मनुष्य का संसार में निर्वाह हो सकता है, किसके साथ कैसा व्यवहार रखना आदि नित्य के जीवनकर्त्तव्यों का इन कवियों ने अच्छा निरूपण किया है। 'घाघ' ने किसानों के लिए बहुत सी बातें कही हैं। इन्हीं कारणों से कोई-कोई इन्हें कवि न कह कर 'सूक्तिकार' कहना अधिक समीचीन समझते हैं।

इन तीनों वर्गों के कवियों के अतिरिक्त कुछ कवि तत्त्वज्ञान तथा प्राचीन भक्तिसम्बन्धी कविता करनेवाले हो गए हैं; पर इनकी कविता बहुत साधारण ढंग की होती थी और इनके नामादिक का भी ठीक पता नहीं चलता।

गद्य-साहित्य का आविर्भाव

पद्य के अतिरिक्त गद्य लिखने की प्रथा भी इसी अलंकृतकाल के समय से चली, कुछ दो-चार लेखकों ने व्रजभाषा में गद्य लिखा। इनमें सब से प्रथम तो वल्लभाचार्य के पुत्र स्वामी विट्ठलनाथजी थे; परन्तु उनके पुत्र गो० गोकुलनाथ की ८४ तथा २५२ वैष्णवों की वार्ताएं बहुत प्रसिद्ध हुईं। इनके अतिरिक्त कुछ पुराने ढंग के टीकाकारों ने गद्य में शृंगारशतक आदि की टीका की; पर यह गद्यटीका ऐसी हुई कि मूल चाहे आपके समझ में आजाय; पर टीका का समझना बहुत कठिन है। अभी खड़ी बोली में गद्य लिखने की प्रथा नहीं चली थी। अगले परिच्छेद से हम गद्यकाल और वर्तमान गद्य का संक्षिप्त विवरण देकर अंत में आधुनिक और वर्तमान कविता के इतिवृत्त का सारांश लिखेंगे।

गद्य-साहित्य

प्राचीन गद्य

प्राचीन हिन्दी-गद्य के नमूने पृथ्वीराज के पट्टों, गोरखनाथ के धार्मिक ग्रन्थों, गोकुलनाथ की वार्ता तथा जटमल, बनारसीदास और चँदेरी के नाथूराम की कथा आदि में पाए जाते हैं। इस काल को बारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक मानना चाहिए। इन गद्य के नमूनों का साहित्य की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है, तथापि गद्य के इतिहास में इनका उल्लेख होना आवश्यक ही है। इन सब रचनाओं में व्रजभाषा की छाप है और तुक पर ही उनका प्राण है।

लल्लूलाल

वर्तमान हिन्दी-गद्य लल्लूलालजी के समय से प्रारम्भ होता है। लल्लूलालजी आगरे के निवासी थे; परन्तु जीविका के लिए उन्हें कलकत्ते जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने फ़ोर्ट विलियम कालेज के अँगरेज़ विद्यार्थियों के लिए डा० गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में 'प्रेमसागर' नामक ग्रन्थ लिखा। खड़ीबोली का

यही सब से पहला और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। प्रेमसागर भागवत का अनुवाद मात्र है। यों तो इस ग्रन्थ में व्रजभाषा के शब्दों की ही अधिकता है, परन्तु उसकी क्रियाएँ खड़ी बोली की ही हैं। लल्लूलालजी ने अपने ग्रन्थ में संस्कृत और व्रजभाषा के शब्दों को ढूँढ-ढूँढकर स्थान दिया है, और जहाँ तक हो सका है उन्होंने बोलचाल के उर्दू शब्दों का वहिष्कार ही किया है। अँग्रेज़ों के साथ लेखक के रहने पर भी प्रेमसागर में अँग्रेज़ी का कोई शब्द देखने में नहीं आता। प्रेमसागर की भाषा बड़ी मीठी, पर कठिन संस्कृतयुक्त है। इसीलिए इसका प्रचार जनता में उतना नहीं हो सका जितना कि खड़ी बोली गद्य के प्रथम ग्रन्थ को मिलना चाहिए। पुस्तक में सर्वत्र तुक और अनुप्रास की भरमार है। कहीं-कहीं तो बीच-बीच में दोहे-चौपाइयों के दो-एक फुटकर पद्य भी लिख दिये गए हैं जिससे ग्रन्थ गद्य-पद्यमय हो गया है। वैतालपचीसी और सिंहासन-बत्तीसी के भी लेखक लल्लूलाल ही हैं।

लल्लूलाल के समकालीन दो गद्यलेखक हिन्दी के और हैं।

इनशाअल्लाहख़ाँ

उनके नाम इनशाअल्लाहख़ाँ तथा सदल मिश्र हैं। इनशाअल्लाहख़ाँ उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि थे। इनकी और कवि मुसहफ़ी की 'तूतू मैंमैं' उर्दू-साहित्य में प्रसिद्ध है। इन्होंने हिन्दी में "रानी केतकी की कहानी" लिखी है। इन्शा ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि वे एक ऐसा ग्रन्थ लिखना चाहते थे

जिसमें हिन्दी की छुट और भाषापन की पुट न आने पावे। इसमें संदेह नहीं कि 'रानी केतकी की कहानी' में लेखक को पूरी सफलता मिली है। जिस उद्देश्य को लेकर उन्होंने ग्रन्थ का निर्माण किया था वह पूरा हुआ। 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी-गद्य में सब से पहला प्रसिद्ध मौलिक ग्रन्थ है। उसकी भाषा बड़ी सरल, मुहावरेदार तथा सुन्दर है। विनोद और विचित्रता की भी कमी नहीं है। मनोरंजकता लाने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी गई है। लेखक के व्यक्तित्व की छाप पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ में दृष्टिगोचर होती है। प्रोफ़ेसर आज़ाद ने ठीक ही कहा है कि 'इन्शा के अलफ़ाज़ मोती की तरह रेशम पर ढुलकते आते हैं।'

सदल मिश्र

वर्तमान हिन्दी-गद्य के तीसरे प्रसिद्ध लेखक सदल मिश्र हैं। इन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। इनके ग्रन्थ की भाषा और लल्लूलालजी के प्रेमसागर की भाषा में बहुत अन्तर है। जहाँ लल्लूलालजी ने बोलचाल की भाषा का बहिष्कार करके संस्कृत के शब्दों की झड़ी लगा दी है वहाँ सदल मिश्र ने अपने ग्रन्थ में बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। यही नहीं, इन्होंने उर्दू के शब्दों को उपयुक्त स्थलों पर स्थान दिया है। इसीलिए इनके ग्रंथ में बनावटीपन नहीं आने पाया है। हिंदी गद्य में दोहरे शब्दों को प्रचलित करनेवाले सबसे प्रथम लेखक

सदल मिश्र ही हैं। 'फूला फलो' आदि दोहरे शब्दों का इन्होंने पहले-पहल वाक्यों में प्रयोग किया है।

गदर के पहले हिंदी-गद्य के दो लेखक और होगये हैं; जिन के सम्बन्ध में अब विचार करना चाहिए।

राजा शिवप्रसाद

एक लेखक तो राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद हैं। राजा साहब पर तत्कालीन परिस्थितियों का बहुत प्रभाव पड़ा। अदालत में फ़ारसी लिपि का प्रचार हो गया था। इसीलिए हिंदी लिपि का धीरे-धीरे लोप होने लगा। गाँवों में देशी भाषा के स्कूल खोलने का नियम भी बन चुका था। इस तरह हिन्दी में पाठ्यपुस्तकों की आवश्यकता पड़ी। इधर अँग्रेज़ी के पढ़े-लिखे भारतीयों की संख्या में वृद्धि होने लगी। उन्होंने जब देखा कि अँग्रेज़ी साहित्य कितना सर्वाङ्गपूर्ण है तब इनकी आँखें खुलीं और इन्होंने अपनी भाषा को भी उतना ही उन्नत करने का संकल्प किया। इधर लीथो के छापेख़ाने खोलने का भी भारत में प्रयत्न हो रहा था। देहली में तो एक छापाख़ाना खुल भी गया था। शिवप्रसाद सितारेहिंद पर इन सब बातों का प्रभाव पड़ा। इन्होंने हिन्दी का सर्वप्रथम इतिहास 'इतिहास तिमिरनाशक' नाम से जनता के सामने प्रस्तुत किया। हिन्दी अक्षरों को लुप्त होने से बचाने के लिए इन्होंने एक समाचारपत्र भी निकाला। शिवप्रसाद सितारेहिंद हिंदी और उर्दू के बीच 'पुल' बाँधना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने नागरी अक्षरों में विशेष

करके उर्दू-फ़ारसी शब्दों का ही प्रयोग किया है। हिन्दी-गद्य में मिश्रित शैली के प्रवर्त्तक सितारेहिन्द ही हैं।

हिन्दी गद्य में शैली

कहीं-कहीं तो एक वाक्य में यदि इन्होंने एक ओर फ़ारसी का शब्द लिखा है तो दूसरी ओर साथ ही संस्कृत-शब्द भी लिखा है। उदाहरण के लिए उनका एक वाक्य यह लीजिए 'अपने क़िस्म की अद्वितीय' है। शिवप्रसाद के समय से ही हिन्दी में कोष्ठ के अन्दर शब्दों के लिखने की रीति चली। शिवप्रसादजी ने फ़ारसी के शब्दों का बोध कराने के लिए उनके पर्यायवाची हिन्दी शब्दों को कोष्ठ में लिखा था; परन्तु अब तो अँग्रेज़ी शब्दों को हिन्दी में प्रचलित तथा उनका बोध कराने के लिए 'ब्रैकट' (कोष्ठ) में भाषा के पर्यायवाची शब्द लिखे जाते हैं। शिव-प्रसाद सितारेहिन्द के समय में अँग्रेज़ी के

प्रारंभिक गद्य में विराम-चिह्नों का अभाव

विरामों का उतना प्रयोग नहीं किया जाता था जितना आजकल किया जाता है। पृष्ठ के पृष्ठ उलटते चले ज़ाइये पर कहीं न तो कोई विराम देख पड़ेगा और न कहीं पैराग्राफ़ का ही नाम निशान मिलेगा। एक भाव को दूसरे भाव से अलग करने के लिए 'निदान' शब्द का प्रयोग किया गया है।

सितारे हिन्द का ठीक उलटा काम राजा लक्ष्मणसिंह ने

राजा लक्ष्मणसिंह

किया। उनका कथन है कि 'हमारी राय में हिन्दी और उर्दू न्यारी-न्यारी भाषायें हैं।'

इसीलिए राजा साहब ने अपनी पुस्तकों में उर्दू के शब्दों का बहुत कम प्रयोग किया है। राजा साहब भी सितारेहिन्द की तरह पाठ्यपुस्तकों के ही तैयार करने में दत्तचित्त रहे। संस्कृत के काव्यों और नाटकों का इन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया है। लक्ष्मणसिंह की शकुन्तला तो अब तक स्कूलों में पढ़ाई जाती है।

हरिश्चन्द्र और हिन्दी नाटक

साहित्य पर देश प्रेम की लहर का प्रभाव

हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पदार्पण करने से एक नई जान आ गई। जिन-जिन बातों का सितारेहिन्द की रचनाओं पर प्रभाव पड़ा था उनका भारतेन्दु पर भी प्रभाव पड़ा। भारतेन्दु के समय में देशप्रेम की लहर भी चलने लगी थी। इस लहर का प्रभाव भारतेन्दु और उन के द्वारा हिन्दी-साहित्य पर पड़ा। भारतेन्दु की रचनाओं के देखने से यह बात भली भाँति प्रमाणित हो जाती है। भारतेन्दु ने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य नाटकों की रचना करने में किया है। उनके कुछ नाटक संस्कृत से अनुवादित हैं और कुछ मौलिक हैं। "सत्य हरिश्चन्द्र" दोनों के बीच में है। नाटकों में गद्य की भाषा बनारस की बोलचाल की भाषा से मिलती-जुलती है। पद्य में व्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु ने रोहिताश्व

की भाषा को तोतली बोली में लिखकर यह दिखाया है कि नाटकों की भाषा पात्रों की अवस्थानुसार नाटक के पात्रों की होनी चाहिए । इसी प्रकार डोम आदि । भाषा भाषा के द्वारा उन्होंने पात्रों की भाषा जाति और पेशे के अनुसार ही लिखने का निर्देश किया है। बाबू राधाकृष्णदास ने अपने प्रतापसिंह नाटक में मुसलमानों की भाषा को उर्दू में ही लिखा है। इसी प्रकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जहाँ बालक शंखधर, यशोदा तथा बालिका की भाषा को तोतली बनाया है, उसी तरह उन्होंने रंगभूमि के मिस्टर क्लार्क और जिम तथा आगरे के मौलवी साहब और उलमा की भाषा उर्दू में ही लिखी है।

हिन्दी के उपन्यासों और नाटकों में पात्रों की भाषा उनकी जाति, अवस्था और परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न लिखी जाय या न लिखी जाय, यह एक बड़ी कठिन समस्या है, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं। भारतेन्दु, राधाकृष्णदास तथा प्रेमचन्द भाषा-भिन्नता के ही पक्ष में हैं। कानपुर के प्रथम अखिल भारतवर्षीय कविसम्मेलन के अवसर पर श्री० हरिऔधजी ने सभापति की हैसियत से जो व्याख्यान दिया था उससे तो यही सिद्ध होता है कि वे विविध भाषाओं के प्रयोग का समर्थन नहीं करते।

मौलिक नाटक

हिन्दी में मौलिक नाटकों की बहुत कमी है। तीन-चार मौलिक नाटक भारतेन्दु ने लिखे और उनके बाद राधाकृष्णदास ने 'महाराणा प्रताप' नामक एक मौलिक नाटक लिखा। दो एक मौलिक नाटक कानपुर के राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी लिखे थे, जिनमें 'चन्द्रकला भानुकुमार' प्रसिद्ध है। इधर हाल में कुछ समय से हिन्दी में मौलिक नाटकों के लिखने की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा है। काशी के जयशंकरप्रसाद ने आधुनिक रंगमंचों के लिए हिन्दी में प्रायः एक दर्जन नाटक लिखे हैं, जिनमें केवल तीन या चार ही अभी तक प्रकाशित हो सके हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' जयशंकरप्रसाद का सब से उत्तम नाटक समझा जाता है। भट्टजी की 'दुर्गावती' तथा व्याकुल का 'बुद्धदेव' हिन्दी के मौलिक ऐतिहासिक नाटक हैं।

हिन्दी में बँगला के नाटकों के अनुवाद

इधर हिन्दी में बँगला के नाटकों का भी अनुवाद हुआ है। रवीन्द्र बाबू के 'राजारानी', 'अचलाय-तन', और 'वरमाला' प्रकाशित हो चुके हैं। बँगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का बँगला की तरह हिन्दी में भी बहुत उत्तम स्थान है। नाटक प्रायः ऐतिहासिक ही हैं, इसीलिए उनकी लोकप्रियता बढ़ गई है। आजकल हिन्दी में इन्हीं नाटकों की धूम है। रंगमंचों पर खेलने के लिए ये नाटक किसी प्रकार की अड़चन नहीं डालते।

बँगला की तरह हिन्दी में अँग्रेज़ी नाटकों के भी अनुवाद हुए हैं; पर उतने नहीं। लाला सीताराम ने शेक्सपीयर के भी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद प्रकाशित किया है; पर अँग्रेज़ी के वर्तमान नाटककारों के ग्रन्थों के अनुवाद हिन्दी में अभी बिल्कुल नहीं हुए हैं। अभी हाल में प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने गाल्सवर्दी के चार या पाँच मुख्य नाटकों के अनुवाद प्रकाशित किये हैं। इनमें से कई नाटक प्रसिद्ध औपन्यासिक प्रेमचंद द्वारा अनूदित हुए हैं। इससे उन हिन्दी-लेखकों और पाठकों के सामने आधुनिक नाट्यकला की दृष्टि से कुछ आदर्श नाटक उपस्थित किये गये हैं।

भारतेन्दु के अतिरिक्त संस्कृत-नाटकों के अनुवाद करने में राजा लक्ष्मणसिंह, लाला सीताराम, सत्यनारायण कविरत्न, मुख्य हैं। भवभूति और कालिदास के प्रायः सभी मुख्य नाटकों का हिन्दी में अनुवाद हो गया है।

वर्तमान हिन्दी-नाटक के दोष और उनके सुधारने के उपाय

हिन्दी-गद्य-साहित्य के अन्य अंगों की उन्नति तो हो रही है; पर और किसी अंग की अवस्था इतनी शोचनीय नहीं है जितनी कि नाटक की। उपन्यास, कहानी आदि के लेखकों की संख्या तो दिन पर दिन बढ़ती जा रही है और कला की दृष्टि से भी इनकी बहुत कुछ उन्नति हो चली है, विशेषतः कहानी में। पर बड़े खेद का विषय है और साथ ही कुछ आश्चर्य भी होता है,

न जाने क्यों यथार्थ में अभीतक कोई सफल नाटककार हिन्दी में हुआ ही नहीं। सफल नाटककार से हमारा मतलब उस नाटककार से है जिसके नाटक सफलतापूर्वक हिन्दी रंग-मञ्च पर खेले गए हों या खेले जा सकते हों। हिन्दी में कुछ ऐसे नाटक तो अवश्य लिखे गए हैं जिनके पढ़ने में तो निस्सन्देह उच्च कोटिकी कविता और कहानी दोनों का रसास्वादन होता है ; पर उनको सफलतापूर्वक 'स्टेज' करना असम्भव है। हमारे साहित्यिक नाटककार शायद रंगमंच को ध्यान में रखकर अपनी रचना नहीं करते। कथोपकथन की भाषा ऐसी उच्चकोटि की और प्रायः ऐसी रहस्यपूर्ण कर देते हैं कि उन्हें भली भाँति कुछ इनेगिने विद्वान् ही शायद समझ सकते हैं। नाटक की भाषा तो ऐसी व्यावहारिक होनी चाहिए जिसे यथा संभव सभी श्रोता और दर्शक समझ सकें। भाषा के सिवा दृश्यों और अंकों का नियम देखने में तुरंत ज्ञात हो सकता है कि लेखक रंगमंच से परिचित नहीं है। नाटक-लेखक को रंग-मंच, और अभिनय, पोशाक, बनावट, सजावट, प्रकाश तथा पेंटिंग आदि रंगमंच-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातों से भली भाँति परिचित रहना चाहिए। उन्हें बाहर जाकर प्रसिद्ध रंगमंचों की बनावट और उनके सम्बन्ध की सभी बातों का गंभीर अनुशीलन सफल नाटककार के लिए अनिवार्य है।

यों तो हिन्दी के नाटक हैं ही नहीं; पर जो हैं भी, उनमें आधुनिक नाट्यकला की दृष्टि से कुछ बातें बहुत खटकती हैं और

उनमें जितनी जल्दी सुधार हो सके उतना ही अच्छा। इनमें की कुछ बातों का उल्लेख तो हम ऊपर कर ही चुके हैं, दो-एक बातों पर और प्रकाश डालना है।

पहली बात है नाटकों में गानों की भरमार। नाटक वास्तव में पद्य नहीं होना चाहिए। अब वह समय आगया है कि नाटक और गीति रूपक (opera) अलग कर दिए जायँ। कंपनियों के लेखक तो व्यावसायिक दृष्टि से गाने भरने पर विवश होते हैं; और अनर्थ तो तब होता है जब साथ ही दर्शकगण भी नाच और गानों के ही लालच से अधिक आकृष्ट होते हैं; कम्पनीवाले बिना व्यावसायिक हानि उठाए भी गंभीर नाटक और गीतिरूपक को अलग कर सकते हैं। पारसी कंपनी इस विषय में बंगाली रंगमंच से ही शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। बेमौक़े गाना और नाचना शुरू कर देने से श्रोता के हृदय-पटल पर कोई नाटकीय प्रभाव अपना काम नहीं कर पाता और लेखक का सब परिश्रम ही व्यर्थ हो जाता है। हाँ, नाच-गाने के अलग गीति रूपक लिखे जायँ जिनमें और कुछ नहीं, सिर्फ़ नाच और गायनों में ही सब अभिनय हो और जिससे संगीत-प्रेमियों को भी संतोष हो। दूसरी बात है स्वगत भाषणों तथा ऐसे ही और उपायों का अवलंबन। यह सब संस्कृत-नाटकों की दुर्बलताएँ हैं; जिनका अनुसरण अभी तक हिन्दीवाले आँख मूँदकर करते चले जा रहे हैं। प्रकट कथोपकथन से ही कुशल नाटककार सब काम चला लेता है।

स्वगत भाषणों आदि से अभिनय में बड़ी अस्वाभाविकता आजाती है जिसे प्रत्येक अवस्था में बचाना लेखक का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए।

अंत में, हमारे लेखक स्थान, समय, पोशाक, बनावट, पात्रों के आकार-प्रकार और भाव-भंगी संबंधी कोई हिदायत नहीं देते और जो देते भी हैं वह ऐसा सूक्ष्मरूप में कि उससे कोई मतलब नहीं निकलता। 'बर्नार्डशा और 'गाल्सवर्दी' आदि प्रायः कई-कई पृष्ठों में प्रत्येक दृष्य या अंक के आरम्भ में खेलने वाले के लाभ के लिए सभी ज़रूरी बातें लिख देते हैं और इसे वे अपना अधिकार समझते हैं कि उनके नाटक उनकी हिदायतों के अनुसार ही खेले जायँ। प्रत्येक नये पात्र के प्रवेश के समय उसकी पोशाक, चालढाल, चेहरे के भाव आदि का पूरा ब्यौरा दे देना चाहिए, जिससे सफलतापूर्वक अभिनय हो सके। इन्हीं सब बातों की हिन्दी के नाटकों में बड़ी कमी है।

कंपनियों के नाटक

साहित्यिक नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी में कुछ बाज़ारू नाटकों का भी प्रचार है। पारसी नाटक कंपनियों ने अपने बाज़ारू नाटककारों की मदद से उर्दू-शब्दों से भरे हुए अनेक नाटक खेले हैं; परन्तु इनका साहित्य में कुछ स्थान नहीं है। इस प्रकार के नाटक लिखनेवालों में 'बेताब' और 'राधेश्याम' के नाटक जनता में आजकल कुछ अधिक प्रचलित हैं और लोकप्रिय हो

रहे हैं। इनमें से आगा हश्र काश्मीरी के, आँख का नशा आदि दो-एक नाटक कला की दृष्टि से सफल बन पड़े हैं।

हिन्दी में हास्यरसात्मक ग्रंथों का भी बड़ा अभाव है।

हास्यरस का अभाव

हिन्दी के कवियों को वीर, शृंगार तथा शान्त और करुणरसों से छुट्टी ही नहीं मिली कि वे लोग इस ओर ध्यान देते। भारतीयों को अपनी विद्वत्ता और उन्नत दृष्टि के आगे संसार की भलाई और उसकी मिठास सब फीकी मालूम पड़ती थी। यही कारण है कि हिन्दी-गद्य में भी और विशेष करके नाटकों में हास्यरस कहीं आने ही नहीं पाता। इधर हिन्दी में कुछ विदेशी लेखकों के हास्यरसात्मक ग्रंथों के अनुवाद हो गए हैं, जिससे इस अंश की भी कमी कुछ-कुछ पूरी हो रही है। साहित्य के इस भाग में जी० पी० श्रीवास्तव महाशय ने अच्छा काम किया है। आपकी 'लम्बीदाढ़ी' आदि ग्रंथ प्रसिद्ध ही हैं। मोलियर के ग्रंथों का आपने अनुवाद तो नहीं किया है; पर उसी को आधार मानकर आपने अनेक प्रहसनों को भारत की पुट देकर लिखा है। मोलियर के अतिरिक्त द्विजेन्द्रलाल राय और बंकिमचन्द्र के भी हास्यरसात्मक ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद हो गया है।

हिन्दी-गद्य की वर्तमान उन्नति का कारण उपन्यासों की बाढ़ भी है। हिन्दी के पुराने उपन्यास किसी काम के नहीं हैं। पुराने उपन्यासों के तीन केन्द्र कलकत्ता, बम्बई और

बनारस है। कलकत्ते में जासूसी उपन्यासों की धूम रही। वर्मन कंपनी ने अँग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध जासूसी उपन्यासों का अनुवाद करवा कर अपना काम समाप्त किया। गहमरी महाशय ने भी जासूसी उपन्यासों के प्रस्तुत करने में अच्छा प्रयत्न किया। मेहता लज्जाराम का 'आदर्श दम्पति' हिन्दी का प्रसिद्ध उपन्यास है। बनारस के उपन्यास-लेखकों में देवकीनन्दन खत्री तथा किशोरीलाल गोस्वामी के नाम मुख्य हैं। गोस्वामीजी के उपन्यास साहित्य कोटि में आते हैं। यद्यपि खत्रीजी के ऐयारी और तिलस्मी उपन्यास साहित्य से तो कोसों दूर हैं; पर उनसे हिन्दी का बड़ा उपकार अवश्य हुआ है। इनके 'चंद्रकांता (चार भाग) 'चन्द्रकांता संतति (२४ भाग) और 'भूतनाथ' (१२ भाग अपूर्ण) आदि कुछ उपन्यासों ने हिन्दी के पाठकों की संख्या वहुत अधिक बढ़ाई, इसमें कोई संदेह नहीं और इसके लिए हिन्दी-संसार इनका ऋणी है। इनके सभी उपन्यास मौलिक हैं और बड़ी ही सरस और सरल भाषा में लिखे गए हैं। गोस्वामीजी ने तो कुछ अनुवाद भी किये हैं। इनकी भाषा में पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयास प्रायः देख पड़ता है। इनके कथानकों में प्रेमपूर्ण दृश्यों का प्राधान्य है और कहीं-कहीं तो ये दृश्य कुत्सित और कुरुचिपूर्ण भी होजाते हैं। पर खत्रीजी के उपन्यासों की रोचकता केवल उनके घटनावैचित्र्य के कारण ही है। इनकी देखादेखी 'जौहर' आदि दो-एक और

उपन्यास

लेखकों ने तिलस्मी उपन्यास लिखने का प्रयास किया था ; पर अब न कोई ऐसा उपन्यास लिखता है न पढ़ता है। पाठक समुदाय में ज्ञान की वृद्धि और रुचि के परिमार्जित होने के साथ ही साथ सभी प्रकार के उपन्यास, गल्प, और नाटकों आदि में स्वाभाविकता की माँग बढ़ने लगी और इस माँग की वृद्धि के साथ ही साथ ऐयारी, तिलस्मी और बहुत अंश तक जासूसी उपन्यासों का भी लोप होने लगा। जासूसी उपन्यास के शौकीन तो अब भी हैं और शायद अभी किसी अनिश्चित काल तक रहेंगे भी, पर ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों की माँग बंद है।

अनुवादित उपन्यास

कलकत्ते के उपन्यास प्रायः बँगला ही से अनुवादित किये गए हैं। प्रयाग के इंडियन प्रेस से प्रकाशित उपन्यासों में रमेश बाबू, शरद् बाबू और प्रभात बाबू के उपन्यास मुख्य हैं।

बँगला के अतिरिक्त अँग्रेज़ी के बहुत से उपन्यासों के अनुवाद हो गए हैं। जिनमें निम्नलिखित उपन्यासकारों के ग्रन्थों के अनुवाद बहुत प्रचलित हुए—रेनाल्ड, कोनेन डॉयल, मेरी कोरेली, कॉलिन्स, गोल्डस्मिथ, शेरीडन, विक्टर ह्यूगो, डूमा, जार्ज इलियट, हेगर्ड, हॉलकेन और स्विफ़्ट आदि। इनमें से कुछ के अनुवाद हिन्दी में बड़ी सफलता से हुए हैं ; परन्तु शेष तो किसी काम के नहीं हैं। कहीं-कहीं तो विदेशी ढाँचे पर

भारतीय उपन्यास उतारे गये हैं, परन्तु वह विदेशी रंग-ढंग उपन्यास में साफ़ तौर से दिखलाई देते हैं।

आजकल हिन्दी में सामाजिक उपन्यासों का बोलबाला है। यह काल देश की जागृति का है। राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सभी प्रकार की समस्याओं में भारी परिवर्त्तन हो रहे हैं, अतएव यह कैसे संभव है कि इस जागृति—इस उथल-पुथल का साहित्य में प्रतिबिंब न पड़े। शेक्सपियर के हेमलेट में नाटक के संबंध में जो कहा गया है कि वह समय का दर्पण है; वही बात किसी देश के उपन्यास अथवा साहित्य के संबंध में भी कही जा सकती है। यों तो हिन्दी में अभी तक अधिकतर बँगला के ही सामाजिक उपन्यासों को भरमार थी; परन्तु जब से प्रेमचंदजी हिन्दी के मैदान में आए हैं तब से इन्होंने सब प्रकार के औपन्यासिकों को परास्त कर दिया है। हिन्दी-गद्य में प्रेमचंदजी का ऊँचा स्थान है। उस में क्रांति मचानेवाले वे एक प्रबल क्रांतिकारी हैं। हिन्दी में अब मौलिक उपन्यासों के लिखे जाने की ओर ध्यान दिया जा रहा है और बँगला से अनुवाद करने का जोश ठंडा पड़ रहा है। अँग्रेज़ी से एकदम अनुवाद करने की चलन अवश्य पड़ गई है; पर अभी उसकी गति बहुत मंद है।

सामाजिक उपन्यास

प्रेमचन्द के चार उपन्यास जो हिन्दी में बहुत लोकप्रिय हैं वे सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि और कायाकल्प हैं। बहुत से

साहित्यसेवी नवयुवक इस समय मौलिक हिन्दी उपन्यास लिखने की ओर विशेष ध्यान दे रहे हैं। इसी तरह बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासों के ढंग पर भी बहुत से लोग लिख रहे हैं।

प्रेमचन्द के अतिरिक्त और भी कुछ लोग मौलिक उपन्यास लिख रहे हैं; पर उनकी संख्या अभी बहुत थोड़ी है। हिन्दी के आधुनिक लेखक एक भारी भूल यह करते हैं कि वे एकाग्रचित्त होकर और अपनी विद्याबुद्धि का झुकाव समझ कर साहित्य के किसी एक अंग के ही पोषण में नहीं लग जाते हैं बलिक वे अपनी प्रतिभा की गति को पहचानने की कोई विशेष चेष्टा नहीं करते और जब जैसी उमंग हुई, कभी उपन्यास, कभी कहानी, कभी भावना, कभी प्रबन्ध या कविता लिखने लग जाते हैं। इससे यह होता है कि किसी एक अंग की समुचित सेवा नहीं हो पाती और न लेखक को सब दिशाओं में सफलता ही मिलती है। इस विषय में हम पाश्चात्य लेखकों की नीति का अनुसरण कर सकते हैं। वहाँ के किसी भी बड़े लेखक को हम ऐसा नहीं पावेंगे जो अपना मुख्य विषय छोड़ कर किसी और विषय में अपनी टाँग अड़ाता हो। शा और गाल्सवर्दी आदि ने पहले इस बात को पहचाना कि उनकी प्रतिभा नाटक की ओर ही अधिक वेग से काम करती है; फिर वे और सब ओर से मन हटा कर तन्मयता से केवल नाटक ही की सेवा करने में तत्पर हो गए; पर सब से मुश्किल काम शायद अपनी प्रतिभा

की गति को पहचानना ही है। हमारी शिक्षा और पालन-पोषण प्रायः ऐसे वातावरण में हुआ करते हैं कि हमारी बुद्धि, विचार और प्रतिभा को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का अवसर ही नहीं मिलता। देश की दयनीय आर्थिक और सामाजिक स्थितियों से भी उसका विशेष सम्बन्ध है। हमारे लेखकों के सामने पहला प्रश्न जीविका-निर्वाह का शुरू से ही उपस्थित हो जाता है। बेचारों को इसका अवसर ही नहीं होता कि सुस्थिर चित्त से अपनी प्रतिभा की गति को परख सकें। बहुधा वे 'मार्केट' देखते हैं और फिर प्रकाशकों के कृपाकटाक्ष पर ही उनकी सारी आशाएँ स्थिर रहती हैं। भारतीय प्रकाशक को प्रतिभा, मौलिकता या साहित्यसेवा की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं है। वह केवल 'मार्केट' देखता है। यहाँ के बड़े से बड़े प्रकाशक तक साहित्य के नाम पर कोई ऐसी पुस्तक प्रकाशित करने को तैयार नहीं हैं जिनकी बिक्री में उनको ज़रा भी अंदेशा हो। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हैं कि किसी भी उदीयमान या होनहार लेखक के लिए अपनी प्रतिभा सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित करने का कोई साधन नहीं है। अस्तु, ऐसी दशा में हम साहित्य की उन्नति के अनुकूल भविष्य में उचित वातावरण की आशा करने के सिवा, और कर ही क्या सकते हैं। हाँ, ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में भी हिन्दी के साहित्य-सेवी जो काम कर रहे हैं वह प्रशंसनीय अवश्य है।

हिन्दी में गद्य और कहानियों की ओर आजकल उपन्यास से भी अधिक तत्परता से काम हो रहा है।

कहानी — प्रेमचंद के सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेमद्वादशी, प्रेमपूर्णिमा तथा अन्य संग्रह, सुदर्शन की 'सुधा' और कौशिक की 'चित्रशाला' प्रकाशित हो चुकी हैं। मासिक पत्रों में अन्य छोटे-मोटे लेखकों की कहानियाँ भी प्रतिदिन अधिक संख्या में प्रकाशित हो रही हैं। ध्यान में रखने की बात है कि हिन्दी के इस विभाग में अनुवाद से अधिक काम नहीं लिया जा रहा है। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत के पंचतन्त्र तथा हितोपदेश का हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। उसी प्रकार अँग्रेज़ी के ईसाप्स फ़ेविल्स तथा अरेवियन नाइट्स का; पर इसे हुए बहुत दिन बीत चुके। अब तो मौलिकता ही की ओर ज़ोर दिया जा रहा है। कभी-कभी किसी-किसी बहुत उच्चकोटि की रूसी या फ़रासीसी कहानियों के अनुवाद निकला करते हैं।

प्रेमचंद के सिवा कई और लेखकों को कहानी में सफलता मिली है और मिल रही है और उनमें से मुख्य हैं, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पं० ज्वालादत्त शर्म्मा, 'प्रसाद', 'उग्र' 'सुदर्शन' और विनोदशंकर व्यास।

कौशिकजी को हिन्दू-समाज के पारिवारिक चित्र खींचने में बहुत सफलता मिली है। प्रसादजी की विशेषता है उनकी भाव व्यक्त करने की शक्ति; 'उग्र'जी कहानी-संसार में अपनी

नग्न यथार्थवादिता के लिये प्रसिद्ध हैं। भाषा तो यह बड़ी ही सुन्दर लिखते हैं; बल्कि हिन्दी में एक नए शैलीकार कहे जाते हैं; पर साथ ही यदि ये अपने ग्रन्थों में यथार्थ और आदर्शवाद का मधुर सामंजस्य कर देते तो इनका स्थान बहुत ऊँचा हो जाता। सुदर्शनजी की कहानियों को ध्यान से पढ़ने से जान पड़ता है कि इन्होंने पाश्चात्य कहानियों का अच्छा अनुशीलन किया है और उन्हीं को आदर्श मानकर चले हैं। इनके सिवा और कई लेखक हैं जो अच्छी कहानियाँ लिख रहे हैं। हर्ष की बात है हिन्दी में कहानी का आदर्श दिन पर दिन ऊँचा होता जा रहा है और यदि परिस्थिति अनुकूल हुई तो वह दिन दूर नहीं है जब कि हिन्दी की कहानियाँ रूसी और फ़रासीसी आदि संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों के मुक़ाबिले में रक्खी जा सकेंगी।

हिन्दी-गद्य और आर्य्यसमाज

उपन्यासों के बाद हिन्दी के गद्य-विकास पर आर्यसमाज के आन्दोलन का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। स्वामी दयानंद आर्यसमाज के प्रवर्त्तक थे। गुजराती होते हुए भी इन्होंने हिन्दी की जो सेवा की और उसका जो उपकार किया उसके लिए हमारा साहित्य उनका बहुत ऋणी है। स्वामी दयानंद के प्रयत्न ही से पञ्जाब में हिन्दी का प्रचार हुआ और इन्हीं की राय से आर्यसमाज का सारा कार्य हिन्दी में किया जाने लगा। स्वामी दयानन्द ने स्वयं अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ-

प्रकाश' को हिन्दी में ही लिखा। दयानन्द के समय में सनातन-धर्मियों और आर्यसमाजियों, मुसलमानों तथा ईसाइयों में धार्मिक शंका समाधान तथा शास्त्रार्थ होते थे। छोटे-छोटे पैम्फलेट तो लिखे ही जाते थे, साथ ही साथ व्याख्यानों की भी धूम मचने लगी। इधर समाज की ओर से दो-एक हिन्दी के समाचार पत्र भी निकलने लगे। हिन्दी में व्यंग और ज़ोर-दार शब्दों और शैली का प्रयोग इसी समय से प्रारम्भ होता है। हास्य का भी श्रीगणेश इसी समय से समझना चाहिए। आर्य्यसमाजियों के व्याख्यानों में प्रश्नात्मक वाक्यों का प्रयोग अधिक किया जाता था, अतः अब सीधीसादी भाषा में भी प्रश्नात्मक वाक्यों की धूम मच गई। आर्य-समाज के प्रचारक प्रायः संस्कृत के विद्वान् होते थे और मतमतान्तर सम्बन्धी वादविवाद में विपक्षी को निरुत्तर करने के लिए व्यंग और उपहासयुक्त संस्कृत-शब्दों से लदी हुई भाषा का व्यवहार करते थे। इनके व्याख्यानों और पत्रों की भाषा ऐसी ही चुटीली और ओजपूर्ण होती थी। इसका प्रभाव हिन्दी गद्य पर पड़े बिना नहीं रह सकता था।

संस्कृतपूर्ण हिंदी और आर्यसमाज

आर्यसमाजी महोपदेशकों के साथ-साथ पंडित भीमसेन शर्मा, पंडित गोविन्दनारायण मिश्र तथा पंडित बालकृष्ण भट्ट के द्वारा भी हिन्दी-गद्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग दिन-दिन बढ़ने लगा। यद्यपि पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने गँवारू शब्दों का

प्रयोग कर संस्कृत की बाढ़ को रोकने का कुछ समय तक प्रयत्न किया, तो भी वे अधिक सफल नहीं हो सके।

निबंध

निबन्ध गद्य की कसौटी है। जिस भाषा के निबन्ध जितने ही उच्चकोटि के होंगे उसके गद्य को उतना ही विकसित या उन्नत समझना चाहिए। उपन्यास, कहानी आदि गद्य के सभी अंशों से कठिन होता है निबन्ध लिखना। इसके लेखक के लिये भाषा, भाव, विचार, तथा लेखनशैली का 'मास्टर' और लेख्य विषय का विशेषज्ञ होना चाहिए। किसी भी भाषा में उक्त प्रकार के लेखक तभी दृष्टिगोचर होते हैं जब उस भाषा की उन्नति एक विशेष सीमा तक पहुँच जाती है। हिन्दी अभी उस सीमा तक पहुँच सकी है या नहीं, इसमें संदेह है। पर जो हो, हिन्दी-निबन्ध के इतिहास में एक बात कुछ अनोखी सी हुई है। उपर्युक्त नियम के अनुसार भाषा की उन्नति इस निर्दिष्ट सीमा तक पहुँचने के बाद से उच्चकोटि के निबंध लेखकों की परंपरा स्थापित हो जाने के बाद इसमें उत्तरोत्तर उन्नति होती चलनी चाहिए। अस्तु हिन्दी में, हरिश्चन्द्र के समय के आसपास तो कुछ अच्छे निबंध लिखे गए; पर वर्तमान कालमें वह परम्परा रुकी हुई सी जान पड़ती है। अधिकतर लेखक उपन्यास और कहानी की ही सेवा में तन्मय हैं। इसीसे हिन्दी के इस उन्नत दशा तक पहुँचने में संदेह हो जाता है।

जो हो, हिन्दी में वर्तमान निवन्ध-लेखनकला का आरंभ पहले अन्य भाषाओं के प्रसिद्ध निवंधों के अनुवाद के रूप में हुआ। इससे पहले पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के अँग्रेज़ी निवंधकार वेकन के कुछ अनुवाद जो "वेकन रत्नावली' के नाम से प्रकाशित हुए। फिर पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने चिपलूणकर के मराठी निवंधों के अनुवाद "निवंधमालादर्श" के नाम से प्रकाशित कराये। कुछ विद्वान अनुवाद हो करके रह गए, इस ढंग के अपने मौलिक निवंध न लिख पाये। आचार्य द्विवेदीजी ने अपनी 'सरस्वती' नाम की मासिक पत्रिका के संपादनकाल में कई स्फुट निवंध लिखे; पर वे इतने गंभीर विचार-पूर्ण तथा पाठकों की विचारधारा को उत्तेजित करनेवाले न हो सके। इनके कुछ पहले ही पं० प्रतापनारायण मिश्र, और पं० वालकृष्णभट्ट कुछ मौलिक और उच्चकोटि के साहित्यिक निवन्ध लिख चुके थे। मिश्रजी अपने को हरिश्चन्द्र का अनुयायी कहते थे; पर इनकी शैली हरिश्चन्द्र की शैली से वहुत कुछ विभिन्न है। इनके विषयों में हास्य और न्याय की मात्रा अधिक रहती थी और इनकी भाषा इतनी सरल और स्वाभाविक होती थी कि इसमें प्रायः ग्रामीणता का दोष भी आ जाता था। इन्होंने निवन्धों को प्रकाशित करने के लिए ही 'ब्राह्मण' नाम का एक पत्र निकाला था; पर इस पत्र में अधिक-

आचार्य द्विवेदी जी

प्रतापनारायण मिश्र

तर इन्हीं के लेख रहा करते थे। इनका कोई सुनिश्चित विषय न था। हास्य और विनोद की प्रवृत्ति प्रायः इनके सभी लेखों में मिलती है। कभी-कभी ये विचारात्मक गंभीर विषयों पर भी लेखनी उठाते थे और तब साधु और सन्त भाषा का भी प्रयोग करते थे। पं० बालकृष्णजी ने भी अनेक प्रकार के गद्य-निबंध लिखे हैं। इनके प्रायः सभी लेख छोटे-छोटे पर मुहाविरेदार भाषा में और भावपूर्ण होते थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी अपने निबंधों के लिये प्रसिद्ध हैं। ये अपने लेखों के लिये अधिकतर सामाजिक और राजनैतिक विषय चुनते थे। इनके कहने का ढंग कुछ हास्यपूर्ण और विनोदपूर्ण होता था। अपने वास्तविक भावों को एक बड़े सुन्दर और साथ ही मनोरञ्जक आवरण में ढक कर रखना इनकी विशेषता थी। पहले उर्दू के लेखक होने के कारण इनकी भाषा बड़ी चुस्त, मँजी हुई और मुहाविरेदार होती थी। व्यंग और विनोद के तो ये बादशाह थे। इनके लेखों में "शिवशम्भु का चिट्ठा" बहुत प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास लेखक गोपालराम गहमरी के कुछ साहित्यिक निबंध भी मार्के के हुए हैं। इनकी वर्णन-शैली बड़ी विलक्षण और मनोरञ्जक थी। जिस विषय को उठाते थे उसकी मानो तसवीर सामने रख देते थे। गंभीर से

बालकृष्ण भट्ट

बालमुकुन्द गुप्त

गोपालराम गहमरी

गंभीर विचार को इतने स्पष्ट और रोचक रूप में व्यक्त करते थे कि पढ़नेवाले को किसी दृश्य के देखने का सा अनुभव होता था। पं० गोविन्दनारायण मिश्र के निबंध

गोविन्दनारायण मिश्र संस्कृत-पूर्ण और ओजस्विनी भाषा में लिखे जाते थे। विचार तो इनमें वहुत थोड़ा रहता था; पर यदि वाण और दंडी की सी लच्छेदार भाषा की वहार देखनी हो तो वह एकमात्र मिश्रजी के निवन्धों में ही मिल सकती है।

रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुंदरदास

वर्तमानकाल के उल्लेखनीय निबंध लेखकों में पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० पद्मसिंह शर्मा और वावू श्यामसुन्दरदास अग्रगण्य हैं। शुक्लजी के निबंधों में गंभीर विचार-प्रवाह के साथ ही परिपक्व भाषाशैली का अपूर्व सामंजस्य देखने में आता है। आप हिन्दी भाषा और साहित्य के वड़े मर्मज्ञ और विद्वान् हैं और प्रत्येक 'पैरेग्राफ़' से इनके गंभीर साहित्यानुशीलन तथा तदनुसार सूक्ष्म विचार और विवेचना-शक्ति का पता चलता है। पं० पद्मसिंह शर्मा भी अपने ढंग के अद्वितीय लेखक हैं। आपके चुने हुए साहित्यिक निवंधों का संग्रह अभी हाल में "पद्मपराग" नाम से प्रकाशित हुआ है। आपकी भाषा वड़ी ही चुटीली, आवेगपूर्ण, और सरस होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि आप हिन्दी और उर्दू दोनों पर प्रायः समान अधिकार रखते हैं। 'अकवर' और 'कायम'

आदि कुछ उर्दू कवियों पर आपके लेख अनुपम हैं। हिन्दी, उर्दू के सिवा आप फ़ारसी और संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता हैं। संस्कृत में तो आप साहित्य-सेवा भी करते हैं। रायसाहब बाबू श्याम सुंदरदास निबंध लेखक के रूप में उतने प्रसिद्ध नहीं हैं जितने कि हिन्दी भाषा और साहित्य के उपकारक के रूप में। प्राचीन ग्रंथों की खोज और उनके संपादन-क्षेत्र में आपने हिन्दी संसार में अभूतपूर्व कार्य किया है। इन सब बड़े-बड़े कामों में रहते हुए भी आप स्वतंत्र रूप से कुछ न कुछ लिखने का अवकाश निकाल ही लेते हैं और जो कुछ लिखते हैं वह बड़ी परिपक्व और प्रत्येक दृष्टि से 'शुद्ध' भाषा में। यही आपकी सबसे बड़ी विशेषता है। आप की भाषा में विदेशी शब्द या तो मिलते ही नहीं और जो मिलते भी हैं वे तद्भव रूप में। हिन्दी 'कोविद्‌रत्नमाला' नामक आपकी एक लेखमाला में बहुत से हिन्दी के विद्वानों पर विचारपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

समालोचना

साहित्यिक समालोचना अँग्रेज़ी भाषा में भी अभी सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है और हिन्दी में जो आधुनिक समालोचना इस समय प्रचलित है वह अँग्रेज़ी समालोचना के ही अनुकरण पर चली है, इसलिए हमें अभी इसमें पाश्चात्य साहित्यिक दृष्टिकोण से उच्चकोटि की समालोचना की आशा न करनी चाहिए। पाश्चात्य प्रभाव के पहले जो समालोचना-पद्धति यहाँ

प्रचलित थी वह कुछ और ही ढंग की थी, जिसका अब कोई मूल्य नहीं रह गया है। सबसे पहले संस्कृत के ढंग की पुरानी आलोचना-प्रथा का सूत्रपात अलंकृतकाल के आचार्य कवियों ने किया। यह लोग अपने लक्षण-ग्रंथों में कविता के गुण या दोष निरूपण करते समय पुराने कवियों के छंदों को उदाहरण के रूप में उद्धृत कर दिया करते थे। इनसे भी पहले भक्तमाला के रचयिता नाभादास ने अपने ग्रंथ में एक-एक छप्पय में एक-एक कवि या भक्त के संबंध की कुछ मुख्य-मुख्य बातों की आलोचना की है। इन्होंने कहा तो बहुत थोड़ा है; पर जिस आलोच्य दृष्टि के संबंध में जो बात कही है वह बहुत ही ठीक जँचती है। पर जिसे साहित्यिक समालोचना कहते हैं उसका सूत्रपात बाबू हरिश्चन्द्र के समय से ही हुआ। इन्हीं के समकालीन पं० बदरीनरायण 'प्रेमघन'जी ने अपनी चलाई हुई पत्रिका "आनंद कादंबिनी में लाला श्रीनिवासदास के "संयोगिता स्वयंवर" नामक एक नाटक की विस्तृत और कड़ी समालोचना की। हम प्रेमघनजी को हिन्दी का प्रथम समालोचनात्मक लेखक कह सकते हैं; परन्तु हरिश्चन्द्र काल के अन्य लेखकों ने इस ओर ध्यान न दिया। पं० प्रतापनारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्ट ने लेख तो बहुत से लिखे; पर उनमें ऐसे शायद ही कोई हों जिनमें किसी कवि या लेखक के ग्रंथ या रचना की समालोचना हो। इस प्रकार की समालोचना की प्रथा निश्चित रूप से चलाने का श्रेय पं० महावीर

प्रसाद द्विवेदी को है। इन्होंने पहलेपहल लाला सीतारामजी के कुछ नाटकों के अनुवादों की बड़ी कटु आलोचना की। यह भी वास्तविक रीति से साहित्यिक समालोचना नहीं कही जा सकती ; क्योंकि एक तो यह अनुवादों की आलोचना है, इसलिए आलोचक की दृष्टि मौलिक लेखक को विचारधारा तक पहुँच ही नहीं सकती थी, दूसरे इसमें अनुवादक के केवल दोष ही दोष दिखाए गए हैं। गुण या तो द्विवेदीजी को कोई मिले ही नहीं या यदि मिले भी तो उनका उल्लेख इन्होंने नहीं किया। इसके बाद द्विवेदीजी ने कुछ संस्कृत के कवियों की समालोचना की। इनमें इनकी कालीदास की समालोचना बड़े मौक़े की हुई जो बाद में पुस्तकाकार "कालीदास की निरकुंशता" नाम से हिन्दी-संसार के सामने आई। इनके अतिरिक्त द्विवेदीजी तत्कालीन लेखकों की भाषा की बड़ी तीव्र समालोचना 'सरस्वती' में किया करते थे। हरिश्चन्द्र काल के तथा उनके बाद के लेखक भाषा व्याकरण और मुहाविरे आदि के विषय में तो असावधान रहते थे और यही उच्छृंखलता द्विवेदीजी के संपादन काल तक चली आ रही थी ; पर द्विवेदीजी ऐसे असावधान लेखकों के मानो पीछे पड़ गए और फल यह हुआ कि लोग क्रमशः शुद्ध भाषा लिखने के आदी होने लगे ; पर द्विवेदीजी हिन्दी के कवियों को न जाने क्यों भूल गए। उनकी समालोचना के लिये हिन्दी-

महावीरप्रसाद द्विवेदी

संसार के सम्मुख उपस्थित करने का श्रेय मिश्रबन्धुओं को है। इन्होंने सबसे पहले "हिन्दी नवरत्न"

मिश्रबंधु

नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमें इन्होंने अपने निर्णय के अनुसार हिन्दी के नौ सर्वश्रेष्ठ महाकवियों की समालोचनात्मक जीवनी लिखी। फिर इसके कुछ समय बाद ही इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने हिन्दी-साहित्य का एक विस्तृत इतिहास लिखा। अपने ढंग का पहला ग्रन्थ होने के कारण इसका कुछ दिनों तक बहुत महत्त्व रहा। यद्यपि उनकी आलोचना-पद्धति और साहित्यिक इतिहास लेखनशैली बहुत से आधुनिक विद्वानों को सदोष और भ्रांतिमूलक जँचती है और कुछ तो उनकी समालोचना को समालोचना ही नहीं समझते; पर इसमें किसी को संदेह नहीं होना चाहिए कि सब से पहले इन्होंने ही इस क्षेत्र में अग्रसर होकर इतना बड़ा कार्य कर दूसरों को इस में साहित्य सेवा करने का रास्ता दिखाया और इस प्रकार हिन्दी-संसार को नितांत आभारी किया। परन्तु ज्ञान उत्तरोत्तर परिवर्धनशील हुआ करता है, सो भी ऐसे विषय का ज्ञान जिसकी ओर पहले किसी का ध्यान न गया हो और जिसकी ओर आगे चल कर एकाएक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो गया हो। ठीक यही बात हिन्दी के अतीत और वर्तमान कवियों की समालोचना और उनके द्वारा निर्मित साहित्य के इतिहास-लेखन के सम्बन्ध में हुई है। इस ओर

जिसने पहलेपहल हिन्दी-संसार का ध्यान आकृष्ट किया उसका यथोचित रूप से ऋणी तो वह रहेगा ही; पर इसका अर्थ यह नहीं कि वही इस विषय पर अंतिम शब्द कह गया हो और आगे के कार्यकर्त्ताओं के लिए इस विषय को और सुन्दर, स्पष्ट तथा सुचारु रूपसे उपस्थित करना असंभव हो, बल्कि उलटा यही स्वाभाविक है।

'हिन्दी नवरत्न' 'मिश्रबन्धु विनोद' आदि के प्रकाशित होने के बाद कवियों की समालोचना की प्रथा सी चल पड़ी। अभी तक तो समालोचना केवल गुण-दोष के निरूपण ही तक परिमित थी और समालोचना कोई ऐसा स्वतंत्र विषय नहीं माना जाता था जिस पर अपना ग्रंथ लिखने की बात कोई सोचता हो; पर आचार्य द्विवेदीजी और मिश्रबन्धुओं के इस क्षेत्र में इतना काम कर चुकने के बाद इस विषय के यथार्थ महत्त्व और भाषा तथा साहित्य की उन्नति के लिए इसकी महान् उपयोगिता को लोग ठीक-ठीक समझने लगे और कई लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् इस ओर झुके। स्मरण रखने की बात है कि आचार्य द्विवेदीजी तथा मिश्रबन्धुओं की समालोचनाएँ अँग्रेज़ी समालोचना से बहुत कम प्रभावित थीं, द्विवेदीजी की तो शायद बिलकुल नहीं थी; पर अधिकतर वर्तमान गद्य-लेखक अँग्रेज़ी-साहित्य के आदर्श पर ही चल रहे हैं। वर्तमान समालोचना साहित्य भी अँग्रेज़ी समालोचना के अनुसार ही निर्मित हो रहा है। अँग्रेज़ी ढंग की समालोचना लिखनेवालों में सबसे

प्रमुख स्थान पं० रामचन्द्र शुक्ल का है। आपकी चर्चा पहले भी विभिन्न प्रसंगों में हो चुकी है। आपने सूर, तुलसी तथा जायसी आदि हिन्दी के कई मुख्य कवियों की मार्मिक समालोचनाएँ लिखी हैं। आप कवियोंकी विचारधारा में गोता लगाकर उनके अंतस्तल का रहस्य जानने तथा उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का पता लगाने में सिद्धहस्त हैं। स्वसंपादित 'पद्मावत' में जायसी और 'भ्रमरगीतसार' में सूरदास की, प्रतिभा, कवित्व विचारधारा, प्रकृति-वर्णन विरह-वर्णन आदि सभी दृष्टि से इनकी गवेषणापूर्ण समालोचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखयोग्य हैं। आपकी गंभीर और निष्पक्षपात समालोचना-शक्ति का पता आपके सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ "हिन्दी साहित्य के इतिहास से भी चलता है। 'रहस्यवाद' नामक आपका स्वतंत्र समालोचनात्मक ग्रंथ बहुत उच्च कोटि का निकला है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी की भी समालोचनाएँ बहुत ही उच्च कोटि की और विद्यार्थियों के लिए बड़ी उपयोगी होती हैं। आपने "साहित्यालोचन" नाम का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा है जिसका स्थान हिन्दी में वही है जो अँग्रेज़ी हडसन के "स्टडी आफ़ लिटरेचर" का। इसमें समालोचना को एक स्वतन्त्र विषय मान कर कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, तथा समालोचना आदि साहित्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों का बड़ा गम्भीर और

रामचन्द्र शुक्ल

श्यामसुन्दरदास

विद्वत्तापूर्ण विवेचन है, पर भाषा इसकी बहुत संस्कृतपूर्ण और कहीं-कहीं दुरूह भी हो गई है। निज संपादित कबीर-ग्रन्थावली में आपने कबीर की भी बड़ी मार्मिक समालोचना की है; पर हिन्दी के समालोचकों में सबसे निराला स्थान पं० पद्मसिंह शर्मा का है। आपकी समालोचनाएँ पाश्चात्य प्रभाव से बरी होते हुए भी बहुत विद्वत्तापूर्ण और सर्वोत्कृष्ट कोटि की हुई हैं। उर्दू के भी विद्वान् होने के कारण आपकी भाषा बड़ी चुस्त, मंजी हुई और सजीव होती है। कहीं भी शिथिलता नाम मात्र को देखने में नहीं आती। समालोचना-संसार में आपको उच्चतम स्थान मुख्यतः महाकवि बिहारी की सतसई का 'भाष्य' लिखने के कारण प्राप्त हुआ है। इसकी चर्चा पहले भी हो चुकी है। कुछ लोग प्रायः आपकी समालोचनाओं को आवश्यकता से अधिक व्यंगपूर्ण, व्यक्तिगत आक्षेपपूर्ण और अनुचित पक्षपात युक्त बतलाते हैं। इतना तो निस्सन्देह मानना ही पड़ेगा कि शर्माजी अपने निर्णय के अनुसार बहुत खरी कहनेवाले हैं और सत्य प्रायः कड़ुआ हुआ ही करता है। इसके लिए शर्माजी मजबूर हैं, यह उनका स्वभाव ही है। इस के लिये सहृदय साहित्यिक को उन्हें दोष न देना चाहिए। रह गया उनकी समालोचनाओं का साहित्यिक मूल्य, सो इसमें किसी भी साहित्य-मर्मज्ञ को संदेह नहीं हो सकता। जो आज-कल तुलनात्मक समालोचना के नाम से प्रसिद्ध है उसके प्रवर्त्तक

पद्मसिंह शर्मा

शर्मा जी ही हैं । पं० कृष्णविहारी का भी स्थान समालोचना के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखयोग्य है। आपने शर्माजी की विहारी संबंधी समालोचनाओं से अच्छी टक्कर ली है और

कृष्णविहारी मिश्र

"देव और विहारी" नामक पुस्तक में देव को विहारी से बड़ा कवि सिद्ध करने की प्रवल चेष्टा की है। पर इनके आक्षेपों का उत्तर स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने अपनी "विहारी और देव" नामक पुस्तक में भली भाँति दिया है। अपनी "मतिराम ग्रन्थावली" में मिश्रजी ने मतिराम की भी विशद समालोचना की है; पर इसमें वहुत सी अनावश्यक वातें भी भरी हुई मिलती हैं । आप "समालोचक" नामक समालोचना-सम्बन्धी एक प्रसिद्ध त्रैमासिक पत्र का संपादन भी कुछ दिन तक करते रहे।

इस समय वहुत से नवयुवक समालोचक भी इस क्षेत्र में वड़े उत्साह से काम कर रहे हैं और आशा की जाती है कि कुछ ही दिनों में हिन्दी-समालोचना का स्थान वहुत कुछ ऊँचा हो सकेगा। नवीन समालोचकों की कृतियों में 'शिलीमुख' जी की "प्रसाद की नाट्यकला" तथा वावू रामकुमार वर्मा की "साहित्यसमालोचना" और "कवीरका रहस्यवाद" का उल्लेख किया जा सकता है।

अलंकृत-काल के बाद की कविता

गद्य-काल के आरंभ में पुराने ढँग की कविता की पद्धति भी अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी । अव उसमें परि-

वर्त्तन होना स्वाभाविक था। यद्यपि पुराने ढँग की अर्थात् भक्तिकाल और अलंकृत काल के ढँग की कविता करनेवालों का नितान्त अभाव नहीं हो गया था; बल्कि आज भी पुरानी लकीर पीटनेवाले व्रजभाषा में ही कविता करने पर ज़ोर देते जा रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ कवियों ने कविता की भाषा, भाव, छन्द और विचारधारा आदि सभी बातों में परिवर्त्तन की आवश्यकता देखी। उनमें सबसे पहले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का नाम आता है। गद्य के सम्बन्ध में इनके विषय में ऊपर कहा जा चुका है। इनके समय के आसपास के लिखने वालों की कविता तीन श्रेणियों में विभक्त की जा सकती है—
(१) प्राचीन परिपाटी की कविता (२) नवीन परिपाटी की कविता, (३) दूसरी नवीन परिपाटी की कविता, (इनके अंतर्गत छायावादी कवि भी आ जाते हैं)।

पुराने ढँग की कविता

इनमें से प्राचीन परिपाटी के कवियों की परंपरा आज भी गिरती-पड़ती किसी तरह चली ही जा रही है। हरिश्चन्द्र के समय के आसपास के कुछ दो-चार, पुरानी चाल के कवियों का नाम नीचे दिया जाता है—

महाराज रघुराजसिंह—(सं० १८८०–१९३६)

यों तो इन्होंने बहुत ग्रन्थ रचे; पर उनमें से सर्वप्रसिद्ध 'राम स्वयंवर' है। इसको एक वर्णनात्मक प्रबंध काव्य कहना

चाहिए। इनके अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ ये हैं—'रुक्मिणी परिणय,' 'आनन्दाम्बुनिधि' और 'रामाष्टयाम'।

सरदार-(सं० १९०२-१९४०)

ये काशीनरेश महाराज ईश्वरीनारायणसिंह के आश्रित थे और बड़े विद्वान् और निपुण कवि थे। कवि के अतिरिक्त ये एक बड़े सुयोग्य टीकाकार भी थे। केशव की 'कविप्रिया', 'रसिक प्रिया', सूर के 'दृष्टि कूट,' और विहारी की 'सतसई' पर इनकी टीकाएँ ध्यान देने योग्य हैं। काव्य ग्रन्थों में इनके विशेष प्रसिद्ध ग्रंथ ये हैं—'साहित्य रसी', 'वाग्विलास', 'षट् ऋतु' 'हनुमत भूषण', 'साहित्य-सुधाकर', 'रामलीला-प्रकाश', 'राम-रत्नाकर', 'शृङ्गार-संग्रह', 'तुलसीभूषण' इत्यादि।

राजा लक्ष्मणसिंह-(सं० १९१०-२४)

इनका नाम पद्य की अपेक्षा गद्य के सम्बन्ध में अधिक प्रसिद्ध है; क्योंकि गद्य को आधुनिक रूप देने में राजा शिवप्रसाद तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ इन्होंने भी प्रधान भाग लिया था। कविता में ये ब्रजभाषा का ही उपयोग करते थे। इनकी भाषा बड़ी मधुर और सरस होती थी। इन्होंने संस्कृत के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मेघदूत' और 'शकुन्तला' के हिन्दी में अनुवाद किये हैं और पद्य का अनुवाद पद्य में ही किया है।

लछिराम-जन्म सं० १८९८

इनकी कविता पुराने ढँग की ब्रजभाषा की उत्तम कविता के तुल्य होती थी। समस्यापूर्त्ति में ये बड़े प्रवीण थे। ये समय-समय पर कई राजाओं के आश्रित रहे और प्रायः प्रत्येक के नाम से कोई न कोई ग्रन्थ लिखा है। जैसे, 'मानसिंहाष्टक' (अयोध्या-नरेश महाराज मानसिंह 'द्विज-देव' के नाम से), 'लक्ष्मीश्वर-रत्नाकर' (दर्भंगानरेश के नाम पर), 'रावणेश्वर कल्पतरु' (गिद्धौर नरेश के नाम पर), इत्यादि।

गोविन्द गिल्ला भाई-जन्म-संवत् १९०५

ये ब्रज भाषा में पुराने कवियों के ढँग की कविता करनेवाले एक गुजराती कवि हुए हैं। 'नीतिविनोद' 'शृङ्गार संजीविनी' 'पावस पयोनिधि' आदि इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

नवीन परिपाटी की कविता

गद्य के विकास काल में अर्थात् हरिश्चन्द्र के रचनाकाल के आसपास पुराने ढँग की कविता करनेवालों का संक्षिप्त वर्णन ऊपर हो चुका। अब हरिश्चन्द्र से हिन्दी-कविता में एक नये युग का आरम्भ होता है। इस नवीन परिपाटी के अन्तर्गत हम मुख्यतः उन कवियों को रक्खेंगे जो एक ओर तो हिन्दी-कविता-सम्बन्धी (भाषा, शैली, छन्द, विषय-विचार इत्यादि में) सभी बातों में विशेष परिवर्तन करना चाहते थे और इसके लिए सोद्योग परिश्रम भी कर रहे थे, और दूसरी ओर पुराने ढङ्ग की कविता

से भी नाता तोड़ना नहीं चाहते थे, और सफलतापूर्वक विशेषतः पुराने ढङ्ग की ही कविता करते थे। ऐसे लोगों में सबसे प्रमुख स्थान भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का है और उनके साथ ही पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बदरीनाराण चौधरी 'प्रेमघन,' ठाकुर जगमोहनसिंह, पंडित अम्बिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्मा भी इसी श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं।

भारतेन्दुजी ने गद्य-पद्य दोनों ही की भाषा को परिमार्जित करने के लिए बहुत कुछ किया। ब्रजभाषा का उपयोग तो वे बराबर अपनी कविता में करते रहे; पर उसे वे इस साँचे में ढालने की सदा चेष्टा करते रहे जिससे कि सर्वसाधारण की समझ में वह आसानी से आ सके। प्रसादगुण उनकी कविता का मुख्य गुण है।

हरिश्चन्द्र की विशेषता

जिन कारणों से ब्रजभाषा प्रायः दुरूह हो जाया करती है उन कारणों को दूर कर देने के लिये उन्होंने बड़ा श्रम किया। ब्रजभाषा-पद्य में कुछ ऐसे रूढ़िगत शब्द सदा से प्रयुक्त होते चले आते थे जिनको साधारण ब्रजभाषा जाननेवाले या ब्रज के निवासी भी नहीं समझ सकते। उनके कविता में स्थान पाने का एकमात्र कारण यही है कि कवि लोग सदा से उनका प्रयोग करते चले आए हैं। अपनी कविता में इन शब्दों का यथाशक्ति बहिष्कार उन्होंने किया और अपने सम-

कविता की भाषा में युगान्तर

सामयिक लेखकों से भी जो उनके संपर्क में आते थे, ऐसा ही करने का अनुरोध किया। व्रजभाषा की कविता के सम्बन्ध में एक बात और थी, जिससे हरिश्चन्द्र को खास चिढ़ थी वह थी व्रजभाषा के कवियों की शब्दों को मनमाना तोड़-मरोड़ डालने की आदत। शब्दों की 'स्पेलिंग' के सम्बन्ध में इतनी निरंकुशता हरिश्चन्द्र को असह्य प्रतीत हुई और अपनी कविता को यथासाध्य उन्होंने इस दोष से मुक्त रखने की भरपूर चेष्टा की। ये अपने समय के श्रेष्ठ कवि तो थे ही; अतः इनकी देखादेखी और कवियों ने भी ऐसा करना आरम्भ किया और इस प्रकार क्रमशः पद्य की भाषा बदलने लगी।

कविता की उन्नति के लिये हरिश्चन्द्र के कार्य

भारतेन्दुजी ने कविता की उन्नति और प्रचार के लिये "कविवचनसुधा" नाम की एक पत्रिका भी निकालनी शुरू की जिसमें कवियों की कविताएँ तो छपती ही थीं; पर पीछे गद्य लेख भी छपने लगे थे जिनमें समय-समय पर कविता-सम्बन्धी नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी हुआ करता था और व्रजभाषा की पुराने ढँग की काव्यशैली को परिमार्जित करने का उद्योग किया जाता था।

हरिश्चन्द्र की पत्रिकाएँ और वर्तमान हिन्दी का आविर्भाव

कुछ दिन बाद हरिश्चन्द्र ने 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' नाम की एक दूसरी मासिकपत्रिका निकाली। आधुनिक हिन्दी का परिमार्जित रूप पहलेपहल इसी पत्रिका में दीख पड़ा। स्वयं भारतेन्दु ने

परिष्कृत हिन्दी का आविर्भाव इसी समय से माना है। उन्होंने 'कालचक्र' नाम को अपनी पुस्तक में नोट किया है कि "हिन्दी नई चाल में ढली सन् १८७३ ई०"। इन्होंने कई कवि समाज भी स्थापित किये थे जिनमें समय-समय पर विशेषतः नए ढङ्ग की कवितायें पढ़ी जाती थीं और समस्यापूर्तियाँ भी बराबर हुआ करती थीं। पं० अम्बिकादत्त व्यास, प्रताप-नारायण मिश्र जो कि सभी बातों में हरिश्चन्द्र को अपना गुरु मानते थे, ठाकुर जगमोहनसिंह, बाबू रामकृष्ण वर्मा, और 'प्रेमघन' इस हरिश्चन्द्री कविसमाज के अग्रगण्य कवि थे। इनके हाथों पद्य की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा से बहुत कुछ भिन्न हुई। लाला सीताराम बी० ए० भी हरिश्चन्द्र के ख़ास मित्रों से हैं, और कविता में अपना उपनाम 'भूप' रखते हैं। इनके पद्यानुवाद भाषा में दोहा चौपाई और घनाक्षरी आदि छन्दों में हुए हैं। ये अवधी के बहुत बड़े पक्षपाती हैं, और तुलसीदास की भाषा को ही पद्य के लिए आदर्श मानते हैं; अतः इनकी गणना पुरानी धारा के कवियों के साथ ही करना उचित होगा।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

वर्त्तमान समय के कुछ ऐसे कवि भी हैं जिन्होंने पहले तो पुराने ढङ्ग की कविता की; पर बाद को खड़ी बोली की कविता करने लगे। ऐसे कवियों में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय और पं० श्रीधर पाठक को हम मुख्य

समझते हैं। उपाध्यायजी की प्रारम्भकाल की पुराने ढङ्ग की शृंगाररस की कविता बड़ी ही मधुर और सरस होती थी। परन्तु कालान्तर में इन्होंने अपनी खड़ी बोली की कविता से बड़ा नाम पैदा किया। किन्तु प्रायः इनकी खड़ी बोली की कविता पदविन्यास और छन्द दोनों ही की दृष्टि से इतनी संस्कृतमय होती है कि उसे हिन्दी की न कहकर संस्कृत की कविता कहना ज़्यादा ठीक होगा। इनके सब से अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रिय-प्रवास' नामक महा-काव्य के अधिकतर छन्द ऐसे ही हैं।

श्रीधर पाठक

पंडित श्रीधर पाठकजी पहले व्रजभाषा में ही इतनी सुन्दर कविता करते थे कि पुराने कवियों में भी इनसे सरस कविता करनेवाले कम ही मिलेंगे। उदाहरण के लिए इनके 'ऋतु-संहार' का अनुवाद देखना चाहिए। आगे चल कर इनका नाम गोल्डस्मिथ के 'ट्रैवलर' 'डेज़र्टेड् विलेज' के पद्यानुवाद से बहुत प्रसिद्ध हुआ। ये अनुवाद इन्होंने खड़ी बोली में किये हैं और भाषा भी उतनी संस्कृतपूर्ण नहीं है जितनी 'हरिऔधजी' की। सबसे मार्के की बात इन अनुवादों के सम्बन्ध में यह हुई है कि मूल ग्रन्थ की हरएक पंक्ति में जितने शब्द हैं उतने शब्दों से पाठकजी ने भी बड़ी सफलता पूर्वक काम चलाया है। आधुनिक कवियों में आपका एक विशेष स्थान है।

भारतेन्दु-काल में शुद्ध ब्रजभाषा के कवि 'पूर्ण'

भारतेन्दु-काल में, आद्योपान्त ब्रजभाषा में कविता करने-वाले दो ही एक कवि मिलते हैं। कानपुर के राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' इनमें से एक थे। इनके कुछ सवैयों को चाहे आप देव के सवैयों के मुक़ाबिले में रख दीजिए चाहे मतिराम के, शायद ही कम निकलें। इनके "चन्द्रकला भानुकुमार" नाटक में ऐसे बहुत से सवैये मिलेंगे। एक तो वे वैसे ही लिखते कम थे और दूसरे असमय में ही काल कवलित हो गए, इस कारण इनकी रचना बहुत अल्प परिमाण में ही प्राप्त हो सकी। दूसरे विशुद्ध ब्रज भाषा में

रत्नाकर

रचना करनेवाले बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' हैं। यही एक महाशय हैं जो आज भी उच्चकोटि की पुराने ढङ्ग की कविता करते चले जा रहे हैं। इनका रचनाकाल भारतेन्दुजी के पीछे सं० १९४६ से ही आरम्भ हो जाता है।

नवीन परपाटी की कविता का आविर्भाव

ऊपर जिन कवियों के बारे में कुछ सूचना दी गई है उन्हीं के समसामयिक कुछ महाशयों ने कविता की पुरानी भाषा-शैली आदि को बदल देने के लिए प्रबल आन्दोलन आरम्भ किया। इस आन्दोलन की तुलना अँगरेज़ी-साहित्य के 'रोमैंटिक रिवाइवल' से ही की जा सकती है। हरिश्चन्द्र

और उनके समय के अन्य कवियों और साहित्यज्ञों ने गद्य-साहित्यको देश-काल के अनुसार नए-नए विषयों पर लगाने के साथ ही साथ पद्य को नए साँचे में ढालना शुरू किया। पाश्चात्य साहित्य और सभ्यता का प्रभाव, प्रेस के प्रचार, जनसाधारण में व्यावहारिकता की वृद्धि, गद्य-साहित्य का उत्थान आदि इस परिवर्त्तन में बड़े सहायक सिद्ध हुए; परन्तु इस परिवर्त्तन के मुख्य कारण कुछ और ही थे। हरिश्चन्द्र वस्तुतः एक बड़े देशभक्त कवि थे। स्वदेश प्रेम, मातृभाषा के प्रति अनुराग और उसके साहित्य को उन्नत करने की प्रबल इच्छा, हरिश्चन्द्र के साहित्यिक जीवन के प्रधान अंग थे। समाजसुधार का भाव भी हरिश्चन्द्र में कम न था। अपने देश की परतन्त्रता और फलतः उसकी नितान्त शोचनीय अवस्था हरिश्चन्द्र को सदा चिन्ताग्रस्त किए रखती थी। अधिकतर इन्हीं भावों से उनकी कविता ओतप्रोत है।

हरिश्चन्द्र और समाज-सुधार

एक ओर कहाँ ये भाव और दूसरी ओर कहाँ शृंगारी कवियों के नायिका-नवेली वाले भाव। नए भावों को रखने के लिए कवियों को पुराने ढँग की भाषा और छन्द में भी रदबदल करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। व्रजभाषा के कवित्त और सवैये इन नये भावों के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत हुए। जब कविता का विषय बहुत कुछ व्यावहारिक या सांसारिक हो चला तो उसके लिये भाषा भी वही व्यावहारिक हो, जिसे सर्वसाधारण

नित्य के व्यवहार में लाते हैं, उपयुक्त प्रतीत हुई। कवित्त

ब्रजभाषा नवीन भावों और विचारों के लिये अनुपयुक्त प्रतीत हुई

सवैयों में देश-प्रेम की लहर, तथा समाज सुधार की व्यवस्था आदि कुछ असंगत सी मालूम हुई। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं होना चाहिए कि ब्रजभाषा के कवित्त या सवैयों में इन नवीन भावों का समावेश हो ही नहीं सकता। बात यह है कि हमारे कान ब्रजभाषा के इन छंदों शृंगार, भक्ति तथा ज़्यादा से ज़्यादा वीररस के भावों के सुनने के चिरकाल से अभ्यस्त हो गये हैं। अब इसी भाषा और इन्हीं छंदों में इस नए युग के समाज को जगानेवाले स्वदेशप्रेम इत्यादि के भाव अवश्य खटकेंगे। इस आधुनिक समय की कविता में शृङ्गार, वीर, वीभत्स, हास्य आदि रसों का समावेश होता अवश्य है, पर प्रायः सभी रसों के आलंवन विभाग (आश्रय) बदल गए हैं। नायिका के सुघड़ अङ्ग ही अब शृङ्गार के आलंवन नहीं

आधुनिक कविता के नवीन आधार

रहे। अब प्रकृति को कवि सजीव समझने लगा है। सौंदर्य का क्षेत्र नायिका के अङ्गों में ही परिमित न रहकर 'अनंत' में, विश्वप्रेम में, नदी, पर्वत, लता, मेघमाला, पुष्प, पल्लव आदि प्रकृति के असंख्य अवयवों में व्याप्त हो रहा है। रौद्र और वीररस का आलंवन, प्रतिद्वंदी की नीचता, नायिका का प्रोत्साहन, रणक्षेत्र में अस्त्रशस्त्रों की झनकार नहीं है, अब देश

के लिए आत्मोत्सर्ग करनेवाला, अत्याचारों को शांतिपूर्वक सहकर निरंकुशता की बलिवेदी पर प्राण न्योछावर करनेवाला ही वीर है। इसी प्रकार का परिवर्तन प्रायः सभी रसों के संबन्ध में हो रहा है। हास्य रस का उद्रेक अब किसी भूखे ब्राह्मण की अशन लोलुपता अथवा किसी कृपण की कंजूसी अथवा स्वभाववैचित्र्य से नहीं होता। अब रूढ़िवादी, सुधार-शत्रु, 'पोंगापंथी', सनातनी पंडित, फ़ैशन के गुलाम, ख़िताब के लोभी राजभक्त, ख़ुशामदी रईस आदि विनोद की सामग्री बनाए जाते हैं; परन्तु यह बात हरिश्चन्द्र के समय में नहीं हुई थी। इन्होंने तो केवल इन भावों की ओर संकेतमात्र किया था जिनको परिवर्ती कवि-समुदाय ने बड़े उत्साह से अपनाया। कुछ कवि तो कुछ दिनों तक त्रिशंकु की अवस्था में रहकर यही निश्चय करते रह गये कि पुराने ढर्रे पर चलें या समय की धारा के साथ आगे बढ़ें और दुविधा में पड़ कर कभी व्रजभाषा के सुकुमार छंदों में पुराने ढँग की कविता करते, और कभी नवीन धारा के साथ वह चलते थे। आज भी ऐसे कवियों की संख्या काफ़ी है, पर उत्तरोत्तर कम अवश्य होती जा रही है।

यह तो हम देख ही चुके कि हमारे यहाँ भारतेंदु-काल के पूर्व तक कवि-समूह किस प्रकार शब्दालंकार और उक्ति वैचित्र्य को ही कविता का सर्वस्व माने बैठा था। सब से पहले भारतेंदु ने ही कुछ अंशों तक कविता को जीवन-संगीत-रूप में

अपनाना आरंभ किया और उसे भावप्रधान बनाने की चेष्टा की। यही जीवनसंगीत आगे चलकर दो प्रधान रागों में विभक्त हो गया। ये दोनों प्रधान मार्ग हैं—प्रेमोच्छ्वास और राष्ट्रीय भावों की पुकार।

महावीरप्रसादजी द्विवेदी और कविता की नई परिपाटी

हरिश्चन्द्र के बाद तत्कालीन 'सरस्वती'-संपादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने गद्य के साथ ही पद्यविधान के संबंध में भी बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन के प्रभाव से बहुत से नए कवि खड़ी बोली में कविता करने लगे और इन नई कविताओं की भाषा को यथासंभव सुधार कर वे 'सरस्वती' में छाप दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से नये कवियों की पद्य की भाषा बहुत कुछ परिमार्जित हो गई और स्वयं द्विवेदीजी का भी अधिकार एक मँजी हुई भाषा-शैली पर हो गया। पद्यभाषा के परिमार्जन के सिवाय इन्होंने पद्यरचना की एक नई ही परिपाटी स्थापित करने के लिए भी बड़ा सफल उद्योग किया। पहले द्विवेदीजी भी पद्य-रचना व्रजभाषा में ही करते थे, पर कुछ दिनों बंबई प्रांत में रहने के कारण उन पर मराठी-साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा। मराठी-कविता विशेषतः संस्कृत के छंदों में ही होती है और वाक्यविन्यास भी उसका गद्य का सा ही होता है। यही परिपाटी उन्हें हिन्दी-कविता के लिए भी सुविधाजनक प्रतीत हुई और बड़े साहस से उन्होंने इस परिपाटी को हिन्दी-कविता

के लिए अपनाना शुरू किया। उनकी प्रेरणा से नए कवि भी ऐसा ही करने लगे। सुप्रसिद्ध अँग्रेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) के नवीन सिद्धांत—"गद्य और पद्य का पदविन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए"—का पालन द्विवेदीजी यथाशक्ति करने लगे। दूसरे भी उनकी प्रेरणा से ऐसा करने पर बाध्य हुए, परन्तु जैसा कि सब साहित्यमर्मज्ञ समझते हैं वर्ड्सवर्थ स्वयं अपने इस सिद्धांत का पालन अपनी सर्वोत्कृष्ट कविताओं में नहीं कर सका था, उसी प्रकार द्विवेदीजी भी सब जगह इस सिद्धांत का निर्वाह नहीं कर सके हैं। उनकी भाषा कहीं-कहीं बहुत गद्यमय हो जाती है। उनकी कविताओं का संग्रह "काव्य मंजूषा" नाम की पुस्तक में हुआ है। यद्यपि उनकी कविता में संस्कृत वृत्त और पदविन्यास की छटा कहीं-कहीं बहुत अधिक परिमाण में हो गई है, तो भी इन्होंने कहीं-कहीं हिन्दी के प्रचलित छंदों का प्रयोग बड़ी ख़ूबी से किया है, और संस्कृत के शब्द भी अधिक परिमाण में नहीं आए हैं। इस दृष्टि से उनका कुमारसंभव का पद्यानुवाद "कुमारसंभव सार" उच्चकोटि की रचना कही जा सकती है।

द्विवेदीजी के अनुयायी और सहकारी

इस नये ढँग की काव्यरचना-शैली के प्रवर्तन में पं० श्रीधर पाठकजी ने भी द्विवेदीजी की बड़ी सहायता की, और उनके "ऊजड़गाँव" और "एकान्तवासी योगी" का स्वागत हिन्दी-संसार में कितने उत्साह से हुआ यह सभी कविताप्रेमी

जानते हैं। इन्हीं दोनों महाशयों की चलाई हुई काव्यप्रणाली का अनुमोदन करनेवाले तथा इसी ढंग की काव्य-रचना करनेवाले कई उच्चकोटि के कवि निकले जिनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त, नई-गढ़ी के ठाकुर श्री० गोपालशरणसिंहजी, पं० रामचरित उपाध्याय, और पं० लोचनप्रसाद पांडेय के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। बाबू मैथिलीशरण गुप्त के "भारतभारती" और "जयद्रथ-वध" बड़े लोकप्रिय ग्रंथ सिद्ध हुए हैं। ठाकुर गोपालशरण-सिंहजी की उत्तमोत्तम कविताओं का संग्रह "माधवी" नामक पुस्तक में किया गया है। पं० रामचरित उपाध्याय ने बहुत सी फुटकर कविताओं के अतिरिक्त "रामचरितचिन्तामणि" नामक एक बड़ा प्रबन्धकाव्य भी लिखा है। पं० लोचनप्रसाद पांडेय के "मृगीदुख-मोचन" का काव्यरसिकों ने अच्छा स्वागत किया।

दोरंगी कविता करनेवालों में पं० नाथूरामशंकर शर्मा का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये पहले ब्रजभाषा में कविता करते थे; पर बाद में खड़ी बोली में भी उच्च कोटि की कविता करने लगे। "गर्भरंडा-रहस्य" नामक एक बड़ा प्रबन्ध-काव्य भी इन्होंने लिखा है, जिसमें इन्होंने विधवाओं की दयनीय अवस्था तथा देवमंदिरों में दुराचार आदि के ऊपर बड़ी उग्र रचना की है। इनकी रचना में समाजसुधार की ओर विशेष ध्यान रहता है। इसका एक प्रधान कारण यह भी हो सकता है कि शर्माजी का संबंध आर्यसमाज से बहुत रहा है।

इस समय के इस ढँग की काव्यरचना करनेवाले कुछ और लब्धप्रतिष्ठ साहित्य-सेवियों के नाम और उनकी प्रसिद्ध रचनाओं के नाम नीचे दिये जाते हैं—

पं० गयाप्रसाद शुक्ल "सनेही"

आप भी पुरानी और नई दोनों ढँग की कविता करते हैं। आप उर्दू में भी अच्छी कविता करते हैं। विशेषतः इनकी कविताएँ फुटकर हैं।

लाला भगवानदीन "दीन"

'दीन' जी भी पहले पुराने ढँग की ही कविता करते थे, पर पीछे से खड़ी बोली में करने लगे। आप की कविता में उर्दू का ढँग अधिक है। वीररस पर आपके तीन ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं—'वीर क्षत्राणी,' 'वीर बालक' और 'वीरपंचरत्न'। 'सूर पंचरत्न,' और "केशव पंचरत्न" नामक समालोचना युक्त दो संग्रह ग्रन्थ भी आपने अच्छे संपादित किये हैं।

पं० रामनरेश त्रिपाठी

इनकी कविता में भाषा और भाव दोनों ही में सुरुचि पर बड़ा ध्यान रहता है। 'पथिक', 'मानसी' और 'स्वप्न' आपकी प्रसिद्ध कविताएँ हैं। आपने अभी-अभी बड़े परिश्रम से 'ग्रामगीतों' का एक अपूर्व संग्रह निकाला है।

पं० रूपनारायण पांडेय

यद्यपि आप भी पहले व्रजभाषा में ही कविता करते थे; पर इस समय आप संस्कृत और हिन्दी दोनों ही के छंदों में परिष्कृत खड़ी बोली की रचना के लिये अधिक प्रसिद्ध हो रहे हैं। आप का संग्रह 'पराग' नाम की पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है। 'वनविहंगम,' 'दलितकुसुम' और 'आश्वासन' आपकी श्रेष्ठ रचनायें हैं।

पं० सत्यनारायण कविरत्न

इनकी कविता पुराने कवियों के टक्कर की होती थी। भवभूति के 'मालती माधव' का अनुवाद आपका बहुत उत्तम हुआ है। श्लोकों का अनुवाद आपने सवैयों में किया है जो बड़े ही सरस हैं।

श्रीवियोगी हरि

आप भी वर्तमान काल के व्रजभाषा के कवियों में एक विशेष स्थान रखते हैं। विहारी सतसई के ढँग पर आपकी रचित "वीर सतसई" अभी प्रकाशित हुई है। इस रचना पर इन्हें हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से १२००) का पुरस्कार भी मिला है।

कविता का वर्तमान दृष्टिकोण

अव इधर थोड़े दिनों से (विशेषतः १९१६ ई० के वाद से) कविता की धारा काव्य-संवन्धी सभी विषयों में एक दम बदल

सो गई है। इस कविता-संबंधी वर्तमान विचार धारा को हम रीति-काल की पुरानी और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की चलाई हुई नई काव्य-प्रणाली दोनों ही के विरुद्ध गहरे परिवर्त्तन (Reaction) के स्वरूप में देखते हैं। इस नवीन विचार धारा के नवयुवक कवियों के मतानुसार इनसे पहिले की कविता हमारे अंतःकरण से कुछ संबंध नहीं रखती, वह केवल कुछ विषयों की शिक्षा सी देती है। इस नवीन काव्य-धारा में कवि के हृदय का प्रतिबिंब तथा उसके अंतःकरण की प्रतिध्वनि रहती है। इस कविता का संबंध केवल वाह्यइन्द्रियों से ही नहीं रहता; वल्कि भावुक कविहृदय की सच्ची सहानुभूति के साथ। आधुनिक कवि की दृष्टि वन, पर्वत, नदी, नाले, अनंत

आधुनिक कवियों का प्रकृति-निरीक्षण

आकाश, नक्षत्र, वृक्षलता, पुष्प, पल्लव, आदि के वाह्य सौंदर्य ही तक जाकर नहीं रुक जाती, वल्कि उसका भावुक हृदय उन्हें भी अपनी ही भाँति, हर्ष-विषाद, विस्मय आदि का पात्र समझता है, तथा उनमें छिपा हुआ कुछ रहस्य या संदेश खोज निकालता है। पहले यथार्थ प्रकृति का सौंदर्य स्वयं कविता का विषय न था, मानव संबंध से परे प्रकृति की कोई स्वतंत्र सत्ता न थी, उनका सौंदर्य-निरीक्षण विशेषतः नायक-नायिका के संबंध से होता था। अब कवि नदी के मंद प्रवाह में, वसंत ऋतु के पतझड़ में, फूलों के विकसित होने में तथा ऐसे ही गणनातीत प्राकृतिक व्यापारों में एक

सचेतनता का अनुभव करता है, जिसका अस्तित्व मानव-जीवन से एकदम स्वतंत्र है। इस सचेतनता

प्रकृति की सजीवता

का अनुभव बहुत दिन तक भारतेंदु के परवर्त्ती कवियों में भी नहीं पाया जाता। संस्कृत के कुछ कवियों ने अवश्य प्रकृति में इस प्रकार की सचेतनता का अनुभव किया था, जिनमें कालीदास और भव-भूति मुख्य हैं। ये कवि प्रकृति-निरीक्षण के समय स्वानुभूति की सहायता से बिंब ग्रहण कराने का प्रयत्न करते थे, और इन नए कवियों के रचनाकाल के पहले भारतेंदु-काल में ठाकुर जग-मोहनसिंह ने पहलेपहल इस प्रकार के प्रकृति-निरीक्षण की परिपाटी हिन्दी-कविता में स्थापित कराने की चेष्टा की थी, पर उन्हें प्रोत्साहन नहीं मिला। कविता में इस प्रकार के बाह्य और अंतःप्रकृति को सम्मिलित करानेवाले भावों का सन्नि-वेश करानेवाले प्रथम कवि बाबू जयशंकर

बाबू जयशंकरप्रसाद

'प्रसाद'जी हुए। इन्हीं की देखादेखी कई नवयुवक होनहार कवि इस नए ढँग की रचना में प्रवृत्त हुए जिनमें से पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और पं० सुमित्रानंदन पंत का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके सिवा बाबू राम-

'निराला' और 'पंत'

कुमार वर्मा 'कुमार', महादेवी वर्मा, तथा भगवतीचरण वर्मा आदि कुछ नवयुवक कवियों की रचनाएँ भी कभी-कभी बड़ी सुन्दर बन पड़ती हैं।

कुमारजी की 'अभिशाप', महादेवीजी की 'नीहार' और वर्माजी की नूरजहाँ ही अच्छी रचनाएँ हैं। पुराने ढर्रे के कवि और समालोचक इनकी रचनाओं को अभी बड़ी संदिग्ध दृष्टि से देख रहे हैं और बहुधा असंतोष प्रकट करते हैं। इसका कारण यह है कि भाषा और छंद के संबंध में नए कवि इतने स्वतंत्र हो गए हैं कि खड़ी बोली का कवितात्तेत्र संकुचित होता जा रहा है। भाषा बहुधा इनकी ऐसी होती है कि संस्कृत न जाननेवाले के लिये उसका समझना असंभव है।

खड़ी बोली में कविता करने की कठिनाइयाँ

खड़ी बोली में प्रसादगुणयुक्त मधुर रचना करना बड़ा कठिन काम है। खड़ी बोली के कवि को शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की भी स्वतंत्रता नहीं प्राप्त है। ऐसी अवस्था में, खड़ी बोली की कविता के शैशव में किसी कवि से निर्दोष कविता की आशा करना यद्यपि दुराशा मात्र है, परन्तु साथ ही इसके नवयुवक कवियों को किसी ऐसे मार्ग का अवलंबन करना भी उचित नहीं है जिससे उदीयमान खड़ी बोली की कविता के विकास में बाधा खड़ी हो। जिस भाषा का व्यवहार तथा कभी-कभी जिन भावों का सन्निवेश ये आधुनिक कवि कर देते हैं वे बहुधा सर्वसाधारण क्या, साहित्य-मर्मज्ञों की भी समझ में बिलकुल नहीं आते। लोग बहुधा उस प्रकार की

छायावादी

कविता को 'छायावाद' की कविता कहते हैं। इस प्रकार की कविता के आचार्य

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। पर उनकी नक़ल करने की चेष्टा करनेवाले अधिकतर नवयुवक कवि भाषा और भाव को दुरूह से दुरूह बना देने में ही शायद काव्यकला की पराकाष्ठा समझने लगे हैं, यह बड़े ही असंतोष की बात है। ऐसे ही कवियों की चर्चा करते हुए एक मासिक पत्रिका के योग्य सम्पादक ने कहा है—

"कुछ समय से हिन्दी के नवयुग के कवियों ने प्रेमोन्माद का वर्णन करना प्रारम्भ किया है। जान पड़ता है अब 'प्रियतम' की खोज की जा रही है। अधिकांश नवयुवकों की कविताओं में हमें इसी प्रेमलीला की छवि दिखलाई पड़ती है जो रंगभूमि के परदे के भीतर है। इनके अलंकार मिथ्या हैं, इनकी भाषा मिथ्या है, इनके भाव मिथ्या हैं, इनके रूप मिथ्या हैं तो भी इनमें उन्माद है। रंगभूमि की नायिका की तरह इनकी नायिकायें भी रहस्यमयी हैं। न कोई उसका यथार्थ रूप देख सकता है, न उसका अनुभव कर सकता है; परन्तु इतना कोई भी कह सकता है कि उस रूप ने कवियों की हृत्तंत्री के तार हिला दिए हैं। उससे नीरव गान उत्थित हुआ है और प्रबल उच्छ्वास फूट पड़ा है। ।सभी कवि अनन्त की ओर दौड़ रहे हैं। कहा नहीं जा सकता कि इन कवियों का भी कहीं अंत है कि नहीं।

इसके सिवाय कुछ समालोचकों का यह कहना है "कला का अस्तित्व सार्थक तभी हो सकता है जब कि वह जगत् के कल्याण के लिये हो" भी ठीक है और यह निश्चय

है कि इस प्रकार की प्रलापशैली की कविता से देश या समाज का कल्याण होने की कोई विशेष संभावना नहीं है।

इस नये स्कूल की कविता के सम्बन्ध में इन दोषों के वर्तमान रहते हुए भी घबराने या चौंकने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह परीक्षा-काल है खड़ी बोली की कविता का। भिन्न-भिन्न प्रकार की शैलियाँ नए-नए 'रबड़' और 'कंगारू' आदि विचित्र नामों से पुकारे जानेवाले छन्द, नए-नए भाव आज़माये जा रहे हैं और भविष्य में अभी इसी प्रकार कुछ दिन तक और आजमाए जाते रहेंगे जब तक कि खड़ी बोली के किसी महाकवि का आविर्भाव न होगा और खड़ी बोली की कविता भली प्रकार मँज न जायगी। इस समय इस उठती हुई काव्यधारा को रोकना न तो उचित ही है और न इसका रुकना संभव ही है।

आधुनिक साहित्यिक संस्थाएँ तथा उनके कार्य

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

हिन्दी-साहित्य तथा नागरी लिपि के प्रचार तथा उन्नति के कार्य में अग्रसर होनेवाली पहली संस्था काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा है। इस की स्थापना सं० १९५० में कुछ हिन्दीप्रेमी छात्रों के द्वारा हुई थी। इसमें मुख्य बाबू श्यामसुन्दरदासजी थे जो अभी तक सभा के प्रधान स्तंभ हैं। सबसे पहले सभा के प्रधान कर्मचारियों ने नागरी-लिपि के

प्रचार के लिये बड़ा ही कठिन उद्योग किया और सं० १९५५ में एक बड़ा प्रभावशाली डेपुटेशन लाट साहब की सेवा में इस उद्देश्य से भेजा गया कि सरकारी दफ़्तरों में उर्दू के साथ-साथ हिन्दी को भी योग्य स्थान मिले। पं० मदनमोहन मालवीयजी का इस उद्योग में प्रधान हाथ रहा। सं० १९५७ में यह उद्देश्य सिद्ध हुआ और कचहरियों में नागरी के प्रवेश की घोषणा की गई। बात यह थी कि सरकारी दफ़्तरों में हिन्दी के न होने से नवशिक्षितों में हिन्दी पढ़नेवाले बहुत कम थे और नौकरी पाने के लिये लोग उर्दू ही अधिक तर पढ़ते थे। इसके उपरान्त प्राचीन कवियों के ग्रंथों की खोज तथा प्रकाश की ओर सभा ने विशेष ध्यान दिया और "पृथिवीराज रासो" का सम्पादन हुआ। सभा की "मनोरंजन ग्रंथमाला" में अब तक ५० से ऊपर उपयोगी ग्रंथ निकल चुके हैं। इसके उपरान्त सभा ने "हिन्दी-शब्द-सागर" नाम से हिन्दी में एक महान् विश्वकोष का संपादन कई योग्य विद्वानों द्वारा कराया जिससे हिन्दी की एक बड़ी भारी कमी बहुत कुछ पूरी हुई है। इन प्रशंसनीय कार्यों के अतिरिक्त सभा ने एक "वैज्ञानिक कोश" भी प्रकाशित किया है (सं० १९६३)।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

नागरी-प्रचारिणी-सभा के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के द्वारा भी हिन्दी की बहुत कुछ उन्नति हुई है और हो रही है। इस संस्था-द्वारा विविध विषयों पर उपयोगी पुस्तकें तो निकलती ही

हैं ; परन्तु इसके अतिरिक्त इसके तत्त्वावधान में हिन्दी की विशेष योग्यता की कई परीक्षाएं भी होती हैं और हिन्दी के प्रचार के लिये भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जहाँ हिन्दी का प्रचार कम है या बिलकुल नहीं है वहाँ पाठशालायें भी सम्मेलन की ओर से स्थापित हो गई हैं ।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त बहुत से मुद्रणालयों के अध्यक्षों तथा प्रकाशकों द्वारा भी हिन्दी-साहित्य का बहुत उपकार हो रहा है । पहले सर्वसाधारण में उर्दू के अत्यधिक प्रचार तथा आदर के कारण हिन्दी की पुस्तकों को प्रकाशक लोग छापने से बहुत हिचकते थे क्योंकि उन्हें सर्वथा हानि की आशंका रहती थी ; पर अब धीरे-धीरे यह बात कम हो रही है । कुछ मुद्रणालय जिनके कारण हिन्दी का विशेष हितसाधन हुआ है और हो रहा है उनके नाम ये हैं—

नवलकिशोर प्रेस—लखनऊ
भारतजीवन प्रेस—काशी
इण्डियन प्रेस—प्रयाग इत्यादि

हिंदुस्तानी एकेडेमी

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त प्रयाग की "हिन्दुस्तानी एकेडेमी" जिसकी स्थापना अभी हाल में सन् १९२७ ई० में हुई है, भी हिन्दी और उर्दू-साहित्य की सेवा तथा उन्नति के लिए यथाशक्ति तत्पर हुई है । इस संस्था के तत्वावधान में

प्रतिवर्ष उपयोगी विषयों पर ख्यातनामा विद्वानों को व्याख्यानमालायें प्रकाशित कराने का प्रबन्ध हो गया है। अब तक तीन व्याख्यानमालायें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें से एक का नाम "तारीख़ हिन्द के अज़मना वुस्ता में मआशरती और इक्तिसादी हालात" है। इनके लेखक सुप्रसिद्ध विद्वान् अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली हैं। दूसरी भारत के सर्वश्रेष्ठ पुरातत्वविद् रायबहादुर पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द्रजी ओझा की "मध्यकालीन भारतीय संस्कृति" है। तीसरी विद्यावयोवृद्ध महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा का "कविरहस्य" है। इसके अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू के मुख्य कवियों के संग्रह (Anthology) विस्तृत समालोचना तथा संक्षिप्त जीवन चरित के सहित लिखे जा रहे हैं। अँगरेज़ी तथा अन्य विदेशी भाषाओं में लिखित नितान्त उपयोगी ग्रन्थों के अनुवाद कराये जा रहे हैं। हिन्दी-साहित्य और अँगरेज़ी-साहित्य की उत्पत्ति तो प्रायः एक ही समय हुई; पर कई कारणों से हिन्दी-साहित्य अभी दृढ़तापूर्वक अपने पैरों पर खड़े होने योग्य भी न हो सका और अँगरेज़ी-भाषा के साहित्य का मस्तक इस समय संसार में सब से अधिक समुन्नत दिखाई पड़ रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि पहले तो यहाँ के लेखकों ने इहलौकिक विषयों को तुच्छ समझ कर संस्कृतवालों के ढँग पर पैरों से ठुकराया, फिर अर्थलोलुप और यशलोलुप कवियों ने कामुक आश्रयदाताओं के विनोद के लिये अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया।

फिर अँगरेज़ों के आने के बाद भारतवासियों में भी व्यावहारिकता और सांसारिकता की मात्रा बढ़ी और फलतः लोगों का ध्यान गद्य की ओर झुका। इस समय भी उपयोगी विषयों पर हिन्दी में ग्रन्थ नहीं मिलते। इसका मुख्य कारण यह है कि इस देश के सुशिक्षित लोग अँग्रेज़ी की पुस्तकों से ही अपना काम निकालने के आदी हो गये हैं। अधिकतर तो ऐसे हैं जो अँग्रेज़ी को ही अपनी भाषा के रूप में देखना सुविधा-जनक समझते हैं। हिन्दी से काम लेने में उन्हें बड़ी तरद्दुद उठानी पड़ती है। यह तो हुई उच्च शिक्षा पाये हुए लोगों की बात, पर साधारण शिक्षा पाये हुए केवल हिन्दी या उर्दू से ही जानकारी रखनेवाले लोगों का निर्वाह इस युग में किस प्रकार हो। इस युग में जीवनसमस्या इतनी जटिल हो रही है कि संसार के विविध जीवनोपयोगी रहस्यों से जानकारी न रखने वाले के लिए अब कोई स्थान ही नहीं रहा। अतः इन विविध विषयों पर साधारण देश भाषा हिन्दी में एक बड़ी संख्या में उपयोगी ग्रन्थों की बड़ी आवश्यकता है। इन उपयोगी विषयों के अतिरिक्त, स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जानेवाली भिन्न-भिन्न विषयों जैसे इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शन, राजनीति, साहित्य, तर्कशास्त्र, भूगोल, गणित शास्त्र, ललित कलाएँ तथा विज्ञान के भिन्न-भिन्न अंगों पर लिखी गई पुस्तकों का हिन्दी में रूपान्तर करना परमावश्यक है; क्योंकि इससे एक तो साधारण अवस्था के लोग जो कि विश्व-

विद्यालयों की मँहगी पढ़ाई से फ़ायदा उठाने में असमर्थ हैं इनसे आशातीत लाभ उठावेंगे और अँगरेज़ी के छात्र परीक्षा के समय इन पुस्तकों को बड़ी उपयोगी समझेंगे, फिर देश-भाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनने का सौभाग्य कभी प्राप्त हो तो इन पुस्तकों की उपयोगिता कई गुनी बढ़ जायगी। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये एकेडेमी नितांत उपयोगी विषयों की एक बड़ी सूची प्रकाशित कराकर और योग्य लेखकों से भिन्न-भिन्न विषयों पर ग्रंथ लिखा रही है और कुछ उत्तम ग्रंथ प्रकाशित भी हो चुके हैं।